(७) पृथ्वीराज-विजय

[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्म्मा, अजमेर।]

आर्यावर्तके सुप्रसिद्ध सम्राट् पृथ्वीराज के विषय में "पृथ्वीराज-विजय" नामक संस्कृत का एक महाकाव्य है, जिसकी एक प्रति पंडितवर बुहलर महोदय को ई० सन् १८७५ में संस्कृत भाषा की हस्तलिखित प्रतियों के अन्वेषणार्थ यात्रा करते हुए कश्मीर में प्राप्त हुई थी। वहाँ शारदा लिपि में लिखी हुई प्रति पूने के डेकन कालेज के पुस्तकालय में रखी है और आज तक उसको छोड़कर इस ग्रंथ-रत्न की और किसी प्रति के विद्यमान होने की सूचना नहीं है। इस ग्रंथ के नाम-मात्र को सुनकर ही पुरातत्वान्वेषी एवं इतिहास-प्रिय पुरुषों के हृदय प्रफुल्लित होते हैं और उनके तरल लोचन इसकी अंतरवर्ती वार्ता को जानने के लिये आतुर होते हैं; परंतु दुःख का विषय है कि जो प्रति उपलब्ध है, वह स्थान स्थान पर खंडित और अपूर्ण है। अतः समग्र ग्रंथ कितना बड़ा था, यह बताना कठिन है। यहाँ तक कि जिस विजय के उपलक्ष्य में (जो संभवतः ११९१ ई० सन् वाली तिरोरी की विजय है, जिसमें शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी हारा था) यह ग्रंथ लिखा गया है, उसका वर्णनात्मक भाग भी उपलब्ध नहीं है। न इस ग्रंथ से यही पता चलता है कि इसका रचनेवाला कौन था। इस ग्रंथ के साथ साथ एक टीका मिली है जिसमें टीकाकार ने प्रत्येक सर्ग के अंत में अपना कुछ परिचय दिया है, एवं अपना नाम जोनराज बतलाया है, जिससे यह

सिद्ध है कि यह ग्रंथ उसके पश्चात्-कालीन नहीं हो सकता। जिन पंक्तियों के आधार पर हम यह कह रहे हैं, वे निम्नलिखित हैं—

श्रीलोलराजसुतपंडितभट्टनोन-
राजात्मजो विवरणं व्यधिताद्यसर्गे।
आज्ञामवाप्य विदुषां किल जोनराजः
पृथ्वीमहेन्द्रविजयाभिधकाव्यराजे ॥
श्रीश्रीकण्ठचरित्रकाव्यविवृतौ विश्वस्य निश्वस्य च-
च्छायाभाजि किरातकाव्यविवृतौ विश्रम्य रम्यश्रियि।
पृथ्वीराजजयाख्यकाव्यविवृतौ संवेशमिच्छाम्यहं
शास्त्रक्षोदजखेदमेदुरमतिर्ज्योत्स्नाकरो लावणिः ॥

इन श्लोकों से हमें इतना पता मिल जाता है कि जोनराज नोनराज का पुत्र और लोलराज का पौत्र था और उसने विद्वानों की प्रेरणा से पृथ्वीराजविजय की टीका रचने के पूर्व श्रीकण्ठचरित्र और किरात-काव्य पर वृत्तियाँ लिखी थीं। हम समझते हैं कि हमें इस सुप्रसिद्ध जोन-राज के विषय में इतना ही लिखना पर्याप्त है कि वह कश्मीर में जैनउल्-आबिदीन के समय में (सन् १४१७–१४६७) हुआ था और उसने दूसरी राजतरङ्गिणी की रचना की थी। ऐसे विद्वद्रत्न और इतिहास-लेखक का इस ग्रंथ पर टीका लिखना और वह भी "आज्ञामवाप्य विदुषां" बताकर लिखना इस बात का सबल प्रमाण है कि पंद्रहवीं शताब्दी में इस ग्रंथ का कश्मीर के पंडित-प्रवरों में पर्याप्त प्रचार एवं सम्मान था। टीकाकार का टाका लिखते हुए कई एक स्थलों में पाठभेद का देना भी इस ग्रंथ के प्रचार की पुष्टि में प्रमाणरूप है।

इस समय जो इस ग्रंथ की एक मात्र प्रति प्राप्त है, उसकी क्या दशा है, इसका भी थोड़ा सा वर्णन करना आवश्यक है। यह प्रति भोजपत्र पर शारदा लिपि में लिखी हुई है। प्रारंभ में श्रीगणेशाय का ही पता नहीं है। पहले दो पन्ने खोए हैं। तीसरे पन्ने के एक श्लोक की

अपूर्ण टीका का सर्व प्रथम दर्शन होता है, जिससे ज्ञात होता है कि कवि महोदय मंगलाचरण लिख रहे हैं। ऐसा तो कोई भी सर्ग नहीं है जिसमें कई एक श्लोक और टीका के भाग खंडित अथवा सर्वथा नष्ट नहीं; परंतु पहले और दूसरे सर्गों में पर्याप्त प्रकरण विन्यास उपलब्ध हो जाता है और तीसरे सर्ग के ३८ श्लोकों के उपरांत दो तीन पन्ने प्राय: गले हुए मिलते हैं, जिनका लेख अधिगत नहीं किया जा सकता। कुछ पन्ने इस ग्रंथ में इस तरह से भी रखे हुए हैं कि उनका ठीक स्थान निश्चय करना कठिन है; उदाहरणार्थ चतुर्थ सर्ग का प्रथम पत्र। पाँचवाँ सर्ग, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्व का है और श्लोक संख्या में भी सब से बड़ा है, सुरक्षित मिलता है। इस महती कृपा के लिये कालदेव को धन्यवाद न देना अवश्य कृतघ्नता होगी। छठे सर्ग के अंतिम तीन चार पन्ने गल गए हैं; और जो हैं, उनके प्राय: नीचे का भाग नष्ट हो गया है। सातवें का कुछ प्रारंभिक भाग नहीं मिलता। आगे आठवें से ग्यारहवें सर्ग तक ग्रंथ ठीक ठीक पूर्ण मिल जाता है, परंतु बारहवाँ सर्ग बहुत खंडित है। उसमें कोई ३५ श्लोक बेदाग हैं, शेष ४३ रुंड मुंड हैं और आगे ग्रंथ खंडित और नष्ट हो गया है।

इतिहास-प्रेमियों तथा संस्कृत साहित्यानुरागियों को यह जानकर बहुत प्रसन्नता होगी कि श्रद्धेय पंडित गौरीशंकर जी ओझा केवल उक्त एक प्रति के आश्रय पर ही इस ग्रंथ-रत्न का संपादन कर रहे हैं। ओझा जी ने पूनेवाली प्रति की एक नकल प्राप्त करने के लिये उदयपुर में रहते समय रेजिडेंट महोदय, उदयपुर, तथा एजेंट टू दी गवर्नर जनरल, राजपूताना, के द्वारा यत्न किया; परंतु उन्हें यही उत्तर मिला कि ग्रंथ के पत्रे इतने जीर्ण शीर्ण हैं कि वे हाथ लगाने से टूटते हैं; अत: पुस्तक बाहर नहीं भेजी जा सकती। हाँ यदि वे स्वयं पूने में आकर नकल करना चाहें तो कर सकते हैं। परंतु राजकीय सेवा करते हुए ओझा जी कइ सा

काम के लिये पर्याप्त अवकाश मिलना बहुत कठिन था। साथ ही इनके जैसे पुरातत्वान्वेषी के लिये इस महत्वपूर्ण इतिहास-संबंधी ग्रंथ का अनुशीलन किये बिना रह जाना भी असंभव था। भोजपत्रवाली पूने की प्रति शारदा लिपि में लिखी हुई थी, जो एक अलग ही कठिनाई थी। ये सब असुविधाएँ होते हुए भी पंडितजी ने विविध प्रकार से यत्न कर एवं बहुत द्रव्य व्यय कर एक नकल पूने से करवा मँगाई। यह नकल आदर्श (Facsimile) के समान है, क्योंकि यह प्रत्येक पत्रे की भिन्न भिन्न पत्रे पर मूल की पंक्तियों के क्रम के अनुसार की गई है और मूल पत्रे के हाशिए पर का विद्यमान कोई भी संकेत, शब्द या अक्षर इसमें नहीं छोड़ा गया है। ओझाजी के विद्या-संबंधी अन्य कार्यों के समान (अर्थात् लिपिमाला, सिरोही का इतिसाह, सोलंकियों का इतिहास आदि) यह संपादन भी असाधारण है। आपने इसे छपवाते हुए, ग्रंथ की यथार्थता स्थिर रखने में बहुत भारी श्रम किया है। वस्तुतः यह ग्रंथ कितनी सावधानी, श्रम और सुनिपुण मनोयोग से छपवाया गया है, इसका पता विद्वानों को ग्रंथ के हस्तगत होने पर ही होगा। संस्कृत भाषा का कोई भी ग्रंथ ऐसी खंडित प्रति के आधार पर ऐसी शुद्धता और अव्यतिक्रमता के साथ मुद्रण करवाया हुआ अभी तक हमारे देखने में नहीं आया। जहाँ तक संभव हुआ है, मूल श्लोकों के खंडित अंशों को टीका के आधार पर टिप्पणी में अथवा कोष्ठकों में बड़े ही कौशल के साथ कवितावद्ध उद्धार (Restore) कर छपवा दिया है। पुस्तक प्रायः संपूर्ण छप चुकी है; परंतु अभी छापेखाने के गर्भगृह में ही विराजमान है। भूमिका, टिप्पणि आदि के छप चुकने पर आशा है, शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगी। सब से प्रथम डा० बुहलर के शिष्य मि० मोरिस ने इस ग्रन्थ परसे चौहानों का वंश वृत्त बहुत ही संक्षिप्त वृत्तान्त के साथ वीएना ओरिएन्टल जरनल में छपवाया था, जिसके प्रूफ डा० बुहलर के भेजे हुए ओझा-

जी के पास हमने देखे हैं। परंतु उसमें राजाओं का वृत्तान्त नहीं सा ही है। ई. स. १९१३ में इतिहास-प्रिय श्रीमान् (राय साहब) हरविलासजी शारदा बी० ए०, (एम० एल० ए०) ने इस ग्रन्थ को पंडित जी महाराज से उत्साहपूर्वक सुनकर इसके आशयरूप एक लेख रायल एशियाटिक सोसाइटी, लंदन, को भेजा था, जिसे वहाँवालों ने बड़ी उत्सुकता के साथ छापा था। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, ओझा जी के परम प्रिय मित्र और मेरे परम श्रद्धास्पद विद्यावारिधि श्रीचन्द्रधरजी गुलेरी ने ही एक लेख सन् १९१३ में जब कि इस ग्रन्थ के संपादन का विचार हो रहा था, सरस्वती में छपवाया था। इसके अतिरिक्त अन्य कोई लेख इस ग्रंथ पर हिन्दी में नहीं छपा है। ओझाजी ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर अपनी अप्रकाशित प्रति मुझे अवलोकनार्थ देने की कृपा की है, जिसके आश्रय पर मैं यह लेख लिख रहा हूँ। इसके लिये मैं उनका बहुत कृतज्ञ हूँ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, संप्रति जो ग्रंथ प्राप्त है, उससे उसके रचयिता का पता सम्यक् रूप से नहीं चलता। हाँ वह कितना बड़ा विद्वान् था, इस बात को सिद्ध करने के लिये उसकी कृति साक्षी स्वरूप अवश्य विद्यमान है। मंगलाचरण में इष्टदेव का वर्णन कर इस महाकवि एवं पंडित-मार्तंड ने विशिष्ट कवियों में मुनिवर वाल्मीकि, व्यास और भास का ही नाम लेना उचित समझा। अन्यों का वह क्या नाम लेता; क्योंकि वह स्वयं माघ और भारवि से कम नहीं है। ग्रंथ का सार लिखते हुए हम स्थान स्थान पर जो श्लोक लिखेंगे, उनसे पाठक स्वयं निश्चय कर लेंगे कि कल्पना—शक्ति, शब्द विन्यास, सुंदर-सरस वर्णन की प्रौढ़ता सरस्वती के इस सुपुत्र में कितनी अधिक थी। इसकी कविता बहुत मौलिक है। सोमेश्वर का शिवसायुज्य प्राप्त करना इसने बड़ी सुंदरता और चमत्कार के साथ वर्णन किया है। इसी तरह विद्याधर का संवाद भी बहुत रोचक है। इस कवि का पुष्कर का

वर्णन पढ़ते पढ़ते, कालिदास ने राजधानी अयोध्या की दुर्दशा का जो हृदयवेधी वर्णन किया है, उसका और चाहमान की उत्पत्ति का वर्णन पढ़ते पढ़ते माघ ने जो नारद मुनि के उतरने का चमत्कृत वर्णन किया है, एवं ११ वें सर्ग को पढ़ते भवभूति के उत्तर रामचरित के प्रथम अंक में वर्णित चित्रशाला के वर्णन का स्मरण आए बिना नहीं रहता। ग्रंथकार न केवल कवि था, अपितु उच्च कोटि का पंडित भी था। इसने अपने विस्तृत पांडित्य और बहुश्रुतता का स्थान स्थान पर खूब परिचय दिया है। उदाहरणार्थ वासुदेव का मृगया वर्णन करते हुए लिखा है—

यत्पुण्डरीकमवधीत्तत एव चंद्रा-
पीडोयमित्यधिजगाम यशस्स राजा।
दूरं गतस्तु मृगयाव्यसनेन चित्रं
कादम्बरीं न मनसापि कदाप्यपश्यत् ॥

पुण्डरीक (व्याघ्र, श्वेतकेतु मुनि का पुत्र), कादम्बरी (मदिरा, गंधर्वराज चित्ररथ की पुत्री) और चंद्रापीड (तारापीड का पुत्र) का प्रयोग कर कवि ने बाण रचित कादम्बरी का कैसा अच्छा स्मरण कराया है, यह तुरंत अवगत हो जाता है।

ऐसे ही पाँचवें सर्ग में अजयराज का वर्णन करते हुए लिखा है—

स्फुरत्प्रज्ञाबलोत्साहसिध्युपायगुणोदया।
सर्वाङ्गसुंदरी यस्य नीतिर्वल्लभतां ययौ ॥

यहाँ नीति शास्त्र की प्रसिद्ध वस्तुओं में नायिका व्यवहार आरोपण कर अपनी कुशलता दिखाई है। ऐसे ही आगे कहीं लौकिक मत में मीमांसा-व्यवहार, कहीं तर्क-व्यवहार, कहीं व्याकरण-शास्त्रीय व्यवहार, कहीं आयुर्वेद-व्यवहार, कहीं सांख्य-व्यवहारादि आरोपित किए हैं। प्राचीन शैली के अनुसार मनुष्य के विषय में काव्य लिखना अच्छा न समझा जाने के कारण कवि ने पृथ्वीराज को राम का, कदम्बवास को हनुमान का और भुवनैकमल्ल को शेष का अवतार

बनाया है। तिलोत्तमा को किसी राजकुमारी के स्वरूप में इस पृथ्वी पर आई हुई बतलानेवाले श्लोक नष्ट हो गए हैं।

यह कवि राजस्थान का रहनेवाला नहीं था, यह कई बातों से सिद्ध होता है। उनमें से एक उसका ऊँटों का वर्णन करना है। ऊँट रेगिस्तान के जहाज़ कहलाते हैं और उनका जितना उपयोग इस मरु देश में है, उतना अन्यत्र नहीं हो सकता। उनकी विचित्र आकृति तथा उठने बैठने के ढंग ने अवश्य उस विदेशी कवि के मन पर विलक्षण प्रभाव उत्पन्न किया होगा। हम समझते हैं कि उसे यह पशु रोचक नहीं लगा, क्योंकि उसका वर्णन निन्दा के साथ किया हुआ मिलता है। उदाहरणार्थ वासुदेव के मृगया के प्रसंग में वह लिखता है—

नित्यानिमेषनयनत्वमयं विपाकं
दुष्कर्मणां करभदर्शनतो विदित्वा।
पाणी पिधानपदवीमुपनीय काश्चि-
द्द्रष्टुं नरेन्द्रमपि नापुरस्यदेव्यः॥

आशय—ऊँट के दर्शन करके देवियों ने अपनी आँखों का सदा खुला रहना दुष्कर्मों का फल समझा। उनमें से कइयों ने अपने हाथ आँखों के सामने लगा लिए, जिसका परिणाम यह हुआ, कि वे राजा वासुदेव के भी दर्शनों से वंचित रह गईं। टीकाकार लिखता है— "उष्ट्रोऽदर्शनीय इति प्रसिद्धिः" अर्थात् ऊँट का दर्शन करना अशुभ है, ऐसा प्रसिद्ध है।

पृथ्वीराज की सेना में ऊँट थे, अतः नागार्जुन पर की हुई चढ़ाई का वर्णन करते हुए उसने निम्न लिखित श्लोक दिया है—

अतिभरसहनप्रवृद्धकीर्तिद्विषमिव शेषमहोशमेव मत्वा।
अहिकवलनकेलिकोविदं तत्करभकुलं हयसंघमन्वयासीत्॥

उँट सर्पों को खा जाते हैं, यह बात उसने एक और श्लोक में, जो हम आगे ११ वें सर्ग के प्रसंग में लिखेंगे, स्पष्ट रूप से कही है।

बारहवें सर्ग में काश्मीरी कवि जयानक का पृथ्वीराज के यहाँ आना वर्णित है। वही कवि इस काव्य का रचयिता है। यह बात किन किन पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध है, इस विषय में श्रीयुत पंडित गौरीशंकर जी महाराज स्वतंत्र लेख लिख रहे हैं। जिस समय जयानक शास्त्र-पारंगत हो अपनी विद्या बुद्धि का वैभव प्रकाशित करने का आकांक्षी हुआ, उस समय उसे ठीक ऐसी परस्थिति मिली जैसी कि सुप्रसिद्ध अनुभवी कवि भर्तृहरि ने निम्नलिखित श्लोक में वर्णित की है—

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमंगे सुभाषितम्॥

जो विद्वान् थे, वे अन्य की भलाई के द्वेषी थे। एक विद्वान् को दूसरे विद्वान् से कोई सहानुभूति नहीं थी। वह समझता था कि यदि अमुक विद्वान् है, तो हुआ करे, हमें क्या? हम उसकी बात क्यों सुनें। हम उसकी क्यों प्रशंसा करें? हम भी तो विद्वान् हैं; हमने विद्या नहीं पढ़ी तो क्या भाड़ झोंका है? जो धनवान् थे, वे समझते थे कि विद्वान् लोग अपने आप झख मार हमारे यहाँ आ सिर रगड़ते हैं, हमें उनकी क्या बड़ाई करनी है; शेष जो ज्ञान-शून्य अथवा अल्पज्ञानी थे, उनमें पंडित क्या रमण करते। बेचारा जयानक जब पृथ्वीराज की, जो ६ भाषाओं (अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची और देशज) का ज्ञाता था, विद्या संबंधी कीर्ति को सुन अजमेर आया, तब उसका यहाँ के विद्वानों ने स्वागत नहीं किया। यहाँ पर जो पंडित थे, वे पंडितों की अपेक्षा कवि लोगों को बुरी दृष्टि से देखते थे। इसी का परिणाम है कि जयानक ने इस ग्रंथ के प्रथम सर्ग के प्रारम्भ में दुर्जनों की भर पूर

निन्दा की है और कवि और कविता के स्थान की उच्चता का सुप्रभ युक्तियों और उदाहरणों-द्वारा पोषण किया है ।

यहाँ के विद्वानों में "विश्वरूप" नाम का एक ऐसा विद्वान् था, जिसने जयानक को उपकृत किया । अतः निम्नलिखित श्लोक में विरोधी पंडित "कृष्ण" का नाम लेते हुए उसने विश्वरूप की प्रशंसा की है—

दृष्ट्वा कविं कृष्णमुखैर्मुधान्यै-
रसूयया किं विबुधैर्विधेयम् ।
यो विश्वरूपो * विबुधेषु धूर्य-
स्स एव हेतुर्हि कविप्रथायाः ॥

टीका.........."कृष्णनामा आजयमेरवः पंडितस्तदादिभिः पंडितैर्मिथ्या मत्सरेण किं संपाद्यम् आजयमेरवो यः पंडितराजो विश्वरूपनामा स एव कवि..."

अस्तु; जयानक को यहाँ पर अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने में और उसे सम्पादित करके सुरक्षित रखने में कितना ही कष्ट क्यों न हुआ हो, परंतु वह उद्योगशाली पंडित और कवि भग्नोद्यम नहीं हुआ । वह सम्राट् से सम्मान पाकर रहा और उसके सम्मान से एवं गुणों से प्रसन्न होकर बिना किसी के कहे सुने और बिना कुटिल समालोचकों की तीव्र समालोचना की परवाह करते हुए, बड़े प्रेम से उसने इस काव्य की रचना की । उसने लिखा है—

गतस्पृहोऽप्यादिकविः प्रबंधं
बबंध रामस्य भविष्यतोऽपि ।
संमान्यमानस्तु नरेश्वरेण
मादृक्कथं काव्यविधावुदास्ताम् ॥

* विश्वरूप नाम के कई ग्रंथकार हुए हैं; अतएव इसका ठीक ठीक निर्णय करना कठिन है । संभव है, यह कोषकार विश्वरूप हो ।

मयि प्रवृत्ते हिमसोदराणि
यशांसि विस्तारयितुं नृपस्य ।
प्रजाज्वलीतु प्रतिपक्षराज-
न्यायेन सर्वोपि गणो बुधानाम् ॥

इस ग्रंथ के बारहवें सर्ग का वह भाग, जिसमें जयानक के कश्मीर देश से अजमेर आने का वर्णन मिलता है, बहुत अपूर्ण और खंडित है। जो अंश मिला है, उससे यह ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज की कीर्ति सुनकर यह कवि शारदाक्षेत्र (कश्मीर मंडल) से यहाँ आया था और इसका विग्रहराज के मंत्री पद्मनाभ से अच्छा परिचय हो गया था। इस मंत्री ने ही इसका पृथ्वीभट से परिचय कराया था।

अब इस ग्रंथ के प्रत्येक सर्ग का सारांश लिखते हैं।

प्रथम सर्ग—श्लोक ७७।

श्रीशङ्कर भगवान् तथा पार्वतीनन्दन षडानन की वन्दना कर मुनिवर वाल्मीकि, व्यास और विष्णुधर्मा के प्रणेता भास का गुणगान कर महाकवि जयानक, कवि तथा कविता की उत्कृष्टता प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि नदी के समान सरस्वती कवित्व और पाण्डित्य-रूप से दो तटोंवाली होकर बहती है; परंतु इसका अगला तट अमृत-रसमय है और पिछला मात्सर्य-विषात्मक। वस्तुतः कवि का स्थान बहुत ऊँचा है। देखो, वागीश बृहस्पति का पढ़ाया हुआ इन्द्र अपने सहस्र नेत्रों से जिस बात को नहीं देख सकता, उसको कवि (शुक्र) देख लेता है।

ज्वलन्ति चेद्दुर्जनसूर्यकान्ताः
किं कुर्वते सत्कविसूर्यभासाम्।
महिभृतां दोश्शिखरे तु रूढां
पार्श्वस्थितां कीर्तिलतां दहन्ति ॥

आशय—यदि दुर्जन-रूपी सूर्यकान्त (मणि, सूरीणां अकान्ताः)

जलते हैं, तो महाकवि रूपी-रवि की कीर्ति की वे क्या हानि करते हैं? वे केवल उन महीभृतों (राजाओं, पर्वतों) की, जिनके शिखर पर वे चढ़े हुए हैं, कीर्तिलता को जलाते हैं।

मात्सर्यगर्व से उत्कट जो पंडित रूपी सर्प हैं, उनसे दूषित की हुई भी कविराजोक्ति-रूपी चन्दन लता स्वाभाविक सौगन्ध्य को नहीं त्यागती। कदाचित् कभी दैव संयोग से सज्जन अपने स्वभाव को भूल जाय, परंतु दुर्जन भूलकर भी साधु भाव नहीं धारण कर सकता। उदाहरणार्थ देखो, जलादि द्रव्य संसर्ग से चन्दनादि गन्ध-रहित हो जाते हैं; परंतु लशुन कभी सुगंधित नहीं होता। विधाता ने यह विचार कर कि, कहीं ऐसे पुरुष जो कोविद हैं परंतु कुटिल हैं, स्वर्ग में न घुस पड़ें, ऐसी चाल चली है, जिसके मारे वे बेचारे इस लोक के कर्तव्य को भी नहीं निहार सकते। बेचारी तिमि (परवाली) मछली आकाश में तो क्या उड़ेगी, इस स्थल पर चलना भी नहीं जानती। जो राजा सरस काव्य रचनेवाले कवि को कुपंडितों से नहीं बचाता, वह मानों आँखों देखते देखते अपने क्रीड़ाशुक का क्रूर बिडालों-द्वारा नाश कराता है। कवि के तत्व को कवि ही जानता है, तर्क-वितर्की नहीं जानता। अश्वविद्या में निष्णात पुरुष के गुण दोष को, भला हाथी को चलानेवाला क्या जानेगा? देखो, जब निस्पृह वाल्मीकि ने श्रीराम के जन्म के पूर्व ही रामायण रची, तो भला मुझ जैसा पुरुष जिसका नरेश्वर सम्मान करता है, उसके चरित्र वर्णनात्मक काव्य रचने में क्योंकर उदासीन हो सकता है। पृथ्वीराज महाराज के हिम सदृश यश समूह का विस्तार करने के लिये मुझे उद्यत देख यदि प्रतिपक्षी राजा और पंडित जलने लगें, तो भले ही जला करें। यदि यह कहो कि ऐसी अवस्था में मेरी रचना को कौन सुनेगा, तो इसका उत्तर यही है कि मेरे हृदय में स्थित जो पृथ्वीराज और उनके वंशवाले हैं, वे ही श्रोता होंगे।

एक बार योग-निद्रा से उठे हुए श्रीविष्णु भगवान् को प्रणाम कर नाभि-पद्म-प्रविष्ट श्रीब्रह्माजी हाथ जोड़कर कहने लगे—नाथ ! जैसे आपके इस पुष्कर (कमल) में स्थित होते हुए मुझे लेश-मात्र भी संताप नहीं है, वैसे ही आप से सनाथ किए हुए उस पृथ्वी-लोकवाले पुष्कर में भी मैं सुख से निवास करता हूँ। आप कमल-नयन कहलाते हैं और नाभि में भी एक कमल धारण करते है; इसी लिये इन तीनों कमलों के कारण लोगों ने वहाँ पर आपका साक्षात्कार देख त्रिपुष्कर प्रसिद्ध कर रक्खा है। अजगन्ध नाम के देव (शिव) वहाँ मानो गंगा के इस घमंड का, कि मैं त्रिभुवन-पाप-विनाशिनी हूँ, खंडन करने के लिये निवास करते हैं। हे नाथ ! वह यज्ञ-भूमि, जो प्रचीन काल में अग्नित्रय का आश्रय-रूप कुण्डत्रय थी, अब काल के विपर्यय से पयोमयी मूर्त्ति हो गई है। हे नाथ ! मुमुक्षु, न आप के इस विष्णु-लोक में, न मेरे ब्रह्मलोक में, न उस शिवलोक में रहने से, ऐसे संतुष्ट होते हैं जैसे कि वे उस पुष्कर में, जहाँ अपने तीनों एकत्र हैं, रहने से प्रसन्न होते हैं। हे भगवन् ! पाशुपतास्त्र के समान कलि के बल से वृष (धर्म, बैल) का केवल एक ही पैर शेष रह जाने से वृषवाहन भगवान् त्रिभुवन यात्रा से पराङ्मुख हो गए हैं और—

त्वयापि कामं कलिकालरात्रौ
निद्राविधेयत्वमुपागतेन।
केशान्घनान्गर्जितभीरुणेव
हित्वा स्थितं शान्ततया जिनत्वे॥

आशय—आप भी कलिकाल की रात्रि में नींद ले गर्जना के भय से जल के स्वामी (क्षीर सागर) को त्याग शांत स्थित हो गए हो। बुद्धावतार ले, सिर के लम्बे लम्बे बालों को कटा, अकर्मण्यता धारण कर बैठे हो *।

---

* कवि के इन शब्दो से यह स्पष्ट है कि बौद्ध और जैन धर्मों के कारण वीर हिंदू

उधर कलियुग के प्रभाव से द्विजमंडल यज्ञ-क्रियाओं में निरुत्साहित हो गया है, जिसके कारण यथार्थ हवि का भाग अप्राप्य होने से सुरेन्द्र भी दुर्बल हो गया है। हवनों के न होने से अनावृष्टि का महाभय हो गया है और बेचारी भूमि अल्प फलवती हो चुकी है। कुमार का दिव्य जलजीवी मयूर निर्मद एवं उदास हो बैठा है।

उत्तेजितं रामतया कुलं य–
दुद्वेजितं तद्भवता जिनत्वे।
इत्यन्वयं स्वं प्रति संदिहानो
मंदप्रभस्सूरिरिवाद्य सूर्यः॥
त्वया हरे तापसतामुपेत्य
सख्ये गृहीते हरिणैरिदानीम्।
निवासभूमिर्मम पुष्करं त–
दास्कंदि मातंगमहाभयेन॥

आशय—जिस कुल को आपने रामावतार लेकर उत्तेजित किया, उसी कुल को आपने बुद्धावतार ले उद्वेजित कर डाला। परिणाम यह हुआ कि जैसे कोई पंडित अन्वय (संबंध, कुल) के प्रति संदेहवान हो जाता है, वैसे अपने वंश में संदेहारूढ के समान सूर्य आज हत-कांत हो रहा है। हे हरि! (विष्णु, सिंह) जब इधर आपने तापसता ग्रहण कर हरिणों के साथ संबंध जोड़ लिया, तब उधर मेरी प्यारी निवास–भूमि पुष्कर मातंगों (हाथी, म्लेच्छ, यवन) से आक्रांत हो गई।

नाथ! जगत् की रचना-रूपी महायज्ञ करके जहाँ मैंने अवभृथ स्नान किया था, वहाँ अब म्लेच्छ प्रासादादि को ध्वंस करते हैं और पुनीत पुष्कर तट की भूमि विप्रों के अश्रुओं से औट रही है। जिस पुनीत

जाति में जो अकर्मण्यता, निरुत्साहता एवं उदासीनता उत्पन्न हो गई थी, वह उसे बहुत खटकती थी।

तीर्थ में शची (इन्द्राणी) ने अप्सराओं को भी (स्वर्वेश्या होने के कारण) स्नान करने से रोका, आज उसमें अधम अपवित्र तुर्क स्त्रियाँ स्नान कर रही हैं। आज वे पापी म्लेच्छ, जिन्होंने मरुभूमि में प्रयाण करते करते अपनी प्यास अपने घोड़ों के रुधिर से बुझाई थी, अमृतपान करनेवाले देवताओं के पीने के योग्य पुष्कर का जल पी रहे हैं। हे नाथ ! कहाँ तक कहूँ, देखिए सप्तर्षियों ने जहाँ कामधेनु के दुग्ध से पायस पाक आरंभ किया था, उस स्थान में आज पापी पुलिंद जीती हुई मछलियाँ पका रहे हैं। जिस स्थान में ध्रुवता प्राप्त करने के लिये उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव ने तप किया था, वहाँ आज पापी म्लेच्छ अवीची नरक को सुलभ कर रहे हैं *।

भगवन् ! यह वही तीर्थ है जिसके प्रभाव से अहल्यागमन के दोष-निवारणार्थ पद्मनाल-तंतु में प्रवेश कर इंद्र ने तप कर कमल के समान सहस्र नेत्र प्राप्त किए थे। यही नहीं, यम ने जो यमी के प्रति कामना की थी, उस कुत्सित कर्म का प्रायश्चित्त भी इसी तीर्थ के जल का आचमन कर किया था। इसी जल में स्नान कर महाराक्षस नैर्ऋत ने दिक्पालत्व प्राप्त किया था। वरुण भी खारे समुद्र को निष्फल मान इसीको सर्वस्व समझता है। अग्नि से भी अधिक पवित्र समझकर अग्नि का मित्र वायु यहीं दास बनकर रहता है। यहीं पर उमापति का वृष मंद मंद चाल से टहलता रहता है। नाथ ! इस तीर्थ का गौरव कहाँ तक वर्णन करूँ। इसका दर्शन तापत्रय को दहन करता है, इसका स्पर्श मलत्रय को निर्मूल करता है, इसका वंदन

* चौहान राजा अर्णोराज (आनाजी) के समय में मुसलमानों ने पुष्कर पर आक्रमण कर वहाँ के मंदिरादि को तोड़ा था। उसी घटना को दृष्टि में रख कवि ने यह वर्णन किया हो, ऐसा प्रतीत होता है। पुष्कर से अजमेर की तरफ आगे बढ़कर घाटी को उल्लंघन करने पर आनाजी के हाथ से म्लेच्छों का पराभव हुआ था, जिसके स्मरणार्थ उन्होंने आना-सागर तालाब बनवाया था।

संध्यात्रय को भी जीतता है। निस्संदेह यह स्रोतत्रय गंगा के प्रवाह को भुला देता है। हे पुष्कराक्ष! अधिक क्या कहूँ स्वयं आपने समुद्र को क्षार समझ इस पुष्कर को अपना आश्रय बनाया है। अब आप से यही नम्र निवेदन है कि यह काल शयालुता का नहीं है, वस्तुतः दयालुता प्रगट करने का अवसर है। हे माननीय! आप के उठने पर बेचारे कलि की क्या गणना है? आप के भवभय-भंजनार्थ उद्योग में क्या संदेह हो सकता है?

व्याहृत्य वाक्यमिति पुष्करकारणेन
तूष्णीमभूयत च पुष्करकारणेन।
आसर्गसम्मतपिशाचजनार्दनस्य
भास्वत्यपत्यत दृशा च जनार्दनस्य॥

आशय—पुष्कर के विषय में जब पुष्करोद्भव ब्रह्माजी इतना कह-कर चुप हुए, तब सृष्टि के आदि से ही जिनको पिशाचजनों का मर्दन इष्ट है, उन श्रीजनार्दन की दृष्टि सूर्य नारायण पर पड़ी।

द्वितीय सर्ग—श्लोक ८२

तदनन्तर सूर्यमंडल से एक तेज-पुंज उत्पन्न होकर पृथ्वी पर उतरने लगा। उसे देख आकाश के प्राणी सोचने लगे कि क्या इन्द्र के लिये प्रकल्पित आहुति सूर्यबिम्ब को प्राप्त कर, वायु से अधिक प्रदीप्त हो, फिर पृथ्वी को लौट रही है? जिस सुषुम्ण नामक किरण की प्रति अमावस्या को चन्द्र याचना किया करता है, वह सब क्या सूर्य ने उसे दे दी है? इस कारण क्या चन्द्र उस किरण को ओषधियों को दिखाएगा? क्या उत्तरदिक्पति (काम) का पुत्र नडकूबर रम्भा के अनुराग से स्वर्ग में आ सूर्य से सत्कार पाकर लौट रहा है? क्या भौम म्लेछों के उप-द्रवों का निवारण करने के लिये अपनी माता, भूमि के अङ्क में आ रहा है? कानीनता से कदर्थित, परंतु युद्ध-क्रिया-द्वारा अर्क-मंडल में प्रवेश कर, अयोनिजन्म से द्युतिमान हो क्या कर्ण पुनरपि पृथ्वी पर आ

रहा है ? तदन्तर उस अर्क-मंडल में से बहुत सुन्दर काले बालोंवाला, किरीट, केयूर, कुंडल, माला, मणिमय-मुक्ताहार आदि आभरण धारण किए, चन्दन लगाए, खड्ग और कवच से सुशोभित, वपुष्मान् लोहमय पादवाला एक त्रिभुवन-पुण्य-राशि पुरुष निकला। वह धर्म-व्यवहार में मन से भी अधिक वेगवाला, कुपथ में चलने में शनि से भी अधिक आलसी, सुग्रीव से भी अतिशय मित्रप्रिय और यम से भी अधिक यथोचित दण्डधर था। वह दान में कर्ण से भी अधिक उत्साहवान् और साधुओं की मनोवेदनाओं को दूर करने में अश्विनी-कुमारों से भी अधिक सावधान था। वह अश्व-विद्या में सूर्य के प्रसिद्ध पुत्र रेवन्त से भी अधिक प्रवीण था।

करेण चापस्य हरेर्मनीषया
बलेन मानस्य नयस्य मन्त्रिभिः।
धृतस्य नामाग्रिमवर्णनिर्मितां
स चाहामनोयमिति प्रथां ययौ ॥

आशय—कर में चाप ग्रहण करने से, मनमें हरि को धारण करने से, बल में मान धारण करने से, तथा मंत्रियों द्वारा नय (राजनीति) धारण करने से वह इन गुणों के अग्रिम वर्णों से निर्मित "चा-ह-मा-न" संज्ञा को प्राप्त हुआ। वह विधाता से ही वसुंधरा के लिये अभिषिक्त होकर भेजा गया था; अतः स्वयं श्रीविष्णुभगवान् की सहधर्म-चारिणी अदृश्य मूर्त्तिमती लक्ष्मीजी सूर्य-कुल [1] को समुन्नत करते हुए रघु के समान उसके मस्तक पर भी छत्र धारण करती थी। उसका प्रताप सूर्य्य से भी अधिक और उसका चक्र सुदर्शन से भी अधिक प्रभाव-

---

१—जयानक कवि चौहानों का सूर्यवंशी होना इस काव्य मे जगह जगह लिखता है। अजमेर के ढाई दिन के झोंपड़े से एक बड़ी शिला मिली है, जो चौहानों के इतिहास संबंधी शिलाओं पर खुदे हुए किसी काव्य की प्रथम शिला है। उसमें भी चौहानों का सूर्यवंशी होना लिखा है।

शाली था। नाना रत्न धारण किए हुए शरीरवाली, रत्नाकर के अधिदेवता के समान "ताम्बूल करङ्कवाहिनी" (पानदान रखनेवाली) उसकी चेटी थी। उसके एक पाँच दाँतवाला, युद्ध में अत्यन्य अधृश्यगंध हस्ती * और एक अनतिक्रमणीय अश्व था। उसका कोश नाना युद्धों में व्यय होने पर भी खाली नहीं हुआ था। उसका अनुज "धनंजय", जो अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोगों में अति प्रवीण और अतुलित बलशाली था, उसका सेनापति था। वह न केवल समस्त भूमि का अपितु द्वीपों का भी शासक हुआ। यों प्रजा का ताप निवारण कर तीर्थयात्रा के प्रसंग में उस महायोगी (चाहमान) ने पुष्कर में देह त्याग कर भास्कर-मंडल को प्रस्थान किया।

अचाहमानापि रराज मेदिनी
विगाहमाना रुचिरं तदन्वयम्।
न वंशगुल्मेन तथा वनस्थली
यथा हि भग्नेत्र विभाति मौक्तिकैः॥

आशय—चाहमान-रहित भी यह भूमि उसके कुल को धारण करती हुई अधिक सुशोभित हुई। वास्तव में वंशगुल्म से वनस्थली उतनी सुशोभित नहीं होती जितनी उसमें से फूटकर निकले हुए फूलों से।

जो सूर्यकुल राम, इक्ष्वाकु और रघु के धारण करने से त्रिप्रवर था, वह कलियुग में भी चाहमान को प्राप्त कर वैषम्य रहित प्रवर चतुष्टयी हो गया। उस कुल में नाना यज्ञ करनेवाले, दिशा-विदिशाओं को जीतनेवाले अनेक यशस्वी राजा हुए। उस कुल में समस्त पूर्ववर्ती राजाओं की कीर्ति को भी उल्लंघन करनेवाला प्रतापशाली, साहसी "वासुदेव" नाम का एक राजा उत्पन्न हुआ।

---

* गंधहस्ती उस हाथी को कहते हैं, जिसकी गंध से ही प्रतिपक्षियों के हाथी भाग जाते हैं।

तीसरा सर्ग—श्लोक ३८

वासुदेव कल्पवृक्षों से भी अधिक दानी था। सूर्य्य वंश में अनेक प्रतापशाली राजा हुए; परंतु जैसा प्रतापशाली वासुदेव हुआ, वैसा न भगीरथ हुआ, न सगर हुआ और न रघु। न कोई ऐसा पर्वत रहा, न कोई ऐसा वन, न कोई ऐसी नगरी और न कोई ऐसी मरुभूमि जहाँ कोई न कोई जलाशय, प्याऊ, देवालय अथवा मठ उसने निर्माण न कराया हो। न मयूर प्रथम मेघ को देखकर, न चकोर पूर्ण चन्द्र को देखकर न पिक तरुण आम्र-वन को देखकर इतना प्रसन्न होता था, जितना कि प्रजा-वर्ग उस राजा को देखकर प्रसन्न होता था। देवालयों में निरंतर देवार्चन होने से वृक्षों पर पुष्प नहीं दिखाई देते थे और शंकर का वृष (बैल और धर्म) जो पहले तीन चरणों से कठिनता से चलता था, अब चारों चरणों से सुख के साथ संचार करने लगा। व्यापार-व्यवसाय वृद्धि को प्राप्त हुआ और खानों में से पृथ्वी सुवर्ण देने लगी। नाना दिशाओं में सुर-मंदिर सुशोभित होने लगे और यज्ञों की भरमार से देवेन्द्र के यहीं विराजमान रहने से अमरावती प्रोषित-भर्तृका के समान व्यथित हुई। उसके राज्य में अति वृष्ट्यादि ईति प्रवेश न पा सकीं, न चूहों ने भूमि खोदी, न शुकों ने शालि की खेती उजाड़ी, न शलभों (टिड्डियों) ने यज्ञों के धूएँ के कारण आश्रय पाया। जिस भूमि को कूर्मराज संकुचित अंग होकर नीचे से अपनी पीठ पर उठाता है, उस भूमंडल को वासुदेव ने उसके ऊपर स्थित होकर निराबाध धारण किया। शंकर भगवान् के लिये न हिमालय, न हिमालय की पुत्री पार्वती, न हिमद्युति चन्द्र, न हिमशैल-नदी गंगा, न हिमवत्सखा कैलाश, न हिमाद्रिवृष नंदी उतनी प्रसन्नता उत्पन्न करते थे, जितनी राजा वासुदेव के यश करते थे। पृथ्वी फलवती थी; ऋतु के अनुकूल वर्षा होती थी।

(इसके आगे दो तीन पन्ने प्रायः गल गए हैं।)

चौथा सर्ग—श्लोक ८६

एक बार वह वासुदेव अपने भाई सहित घोड़े पर चढ़कर मृगया के लिये गया और चलते चलते उसने वन-देवताओं के स्थान में प्रवेश किया। उसने मृणाल-बुद्धि से दर्भांकुरों को चाटते हुए और पद्म-पत्र की भ्रांति से जिह्वा को दाँतों से चाटते हुए, मातृ-स्तन पान करते हुए वराह पोतों और मयूरों को तथा जंगली गौओं को नहीं मारा; केवल हिंसक व्याघ्रों और सिंहों का ही शिकार किया और शिकार के बाद मदिरा पान नहीं किया।

राजा का मन उस वन में बहुत प्रसन्न हुआ और शुभ शकुन देख, परवश हो उसने अपनी नगरी में जाने से पूर्व वहीं पर एक सुंदर ऊँचा प्रासाद बनवाया, जिसमें प्रवेश करने की किसी को आज्ञा नहीं थी। दैव-संयोग से एक दिन ऐसा हुआ कि वहाँ पर विहार करता हुआ एक विद्याधर मध्याह्न के पश्चात् शीतलता के कारण तुषार-शैल की भ्रान्ति से उस प्रासाद में चला गया और गरमी से थका हुआ होने के कारण उसे वहाँ तुरंत नींद आ गई। उधर राजा भी मृगया-विनोद से लौटा और इसको सुंदर मणियों का हार एवं अनुपम केयूर, कटक, कुंडल पहने देख सोचने लगा कि यह कौन है।

तं वीक्ष्य भूपतिरचिन्तयदेष ताव-
दस्वप्रतांव्यभिचरत्यथ शेषशायी।
देवोयमेतदपि नास्ति स दृश्यते यै-
स्तेषां भवन्ति नहि दिव्यदृशां विकल्पाः॥

आशय—राजा ने उसे देखकर विचारा कि यह कोई देवता तो है नहीं; क्योंकि देवताओं की आँखें नहीं मिचतीं और यह तो सोया हुआ है। कहीं यह शेषशायी विष्णु देव हों, परंतु ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि उनके दर्शन करने पर तो दर्शक में दिव्य दृष्टि आ जाती है; और मुझको तो दर्शन के अनन्तर विकल्प-बुद्धि उत्पन्न हुई।

नाग, गन्धर्व, सिद्ध-गण और किन्नरों के लक्षण भी इसमें नहीं घटते। पादलेप, खड्ग और अंजन जो विद्याधरों के होते हैं, वे भी इसके नहीं हैं। हो न हो, चौथे प्रकार के जो विद्याधर होते हैं, उनमें से यह हो। अच्छा तो इस बात का पता मैं इसके मुख को भले प्रकार देखकर लगाऊँ। इतने ही में उस सोए हुए विद्याधर के अधखुले मुख में से निकलकर लुढ़की हुई एक गोली राजा के चरणों में लगी, जिससे उसको निश्चय हुआ कि यह विद्याधर है। उधर उस विद्याधर की भी नींद खुली और उसे ज्ञात हुआ कि वह गोली, जिसके द्वारा विद्याधरों को आकाश में विचरने की शक्ति प्राप्त रहती है, मेरे मुख से जाती रही। वह इस दुर्घटना से बहुत उदास हुआ और राजा को सामने खड़ा हुआ देखते हुए भी और स्वयं बोलने की इच्छा करते हुए भी कुछ न बोल सका। राजा ने अनुमान किया कि यह अपने मुँह में रहने-वाली गोली के उड़ जाने के कारण व्यग्र हो रहा है। अतः—

यो मानमात्रकधनस्स किमन्यतोपि
स्वप्नेपि नाम शृणुयादवमानवाक्यम्।
अभ्यासखण्डनभयादिव मानितायां-
स्तस्यावमानवचनश्रवणं ह्यपथ्यम्॥

आशय—जिसका मान मात्र धन है, क्या वह स्वप्न में भी किसी से अपमान के वचन सुनेगा? निस्संदेह मान के अभ्यास के खंडन के भय से उस मानी के लिये मान-शून्य वचन का सुनना अयुक्त है।

अतएव राजा उस विद्याधर को नम्रानन और बोलने का इच्छुक देखते ही स्वयं डरता हुआ कि, कहीं इसके चंद्र-मंडल जैसे मुख से उल्का के समान कार्पण्य वचन न निकल पड़ें, तुरंत स्वयं बोल उठा—

मान्येन धर्मविवशेन तथान्तरिक्षा-
देत्यान्वभूयत सुषुप्तदशाप्रवेशः।

एषा यथा सकलमङ्गलकोशमुद्रा
याता न सिद्धगुलिकैव न यामिकत्वम् ॥

आशय—श्रीमान् ने गर्मी से विवश हो आकाश से उतर सुषुप्ति अवस्था का ऐसा अनुभव किया कि सब मंगल कोशों की मुद्रा जो यह सिद्धगुलिका है, वह पहरेदार बन गई।

राजा के ये वाक्यामृत पान कर विद्याधर कुछ का कुछ हो गया और कहने लगा—राजन् ! आपने अपने चरणों में पड़ी हुई इस विद्याधर-चक्रवर्तिता को तृण के समान भी नहीं गिना। देखिए—

दग्धोपि लोचनमुखेन महेश्वरस्य
कामं विवेश हृदयं पुनरेव कामः ।
एकं तु तस्य भवदाशयमात्रमेव
मन्ये महीमिहिरदुर्ग्रहमेकदुर्गम् ॥

आशय—दृष्टिपथ से दग्ध किया हुआ काम भी महेश्वर के चित्त में पुनरपि प्रवेश कर ही गया। हे मही-मिहिर ! मैं जानता हूँ कि आपका हृदय ही एक ऐसा दुर्ग्रह दुर्ग है, जिसमें काम (मन्मथ और लोभ) प्रवेश नहीं कर सकता।

वस्तुतः क्रोधादि जो अरिपंचक हैं, उनमें अग्रणी काम ही है। उसके जीतने पर शेष क्रोधादि की क्या कथा ? जब महर्षि अगस्त्य ने समुद्र ही पान कर लिया, तब नक्रादि जल-जन्तुओं की तो गणना ही क्या की जाय।

तत्किं ब्रवीम्युपचिकीर्षति मानसं मे
त्वा प्रत्यपीति धिगनीतिविदुक्तिरेषा ।
प्राप्योपमन्युमुनिना किल दुग्धसिंधुं
क्षीराभिषेक कलशेन मुनिः प्रसाद्यः ॥
चिन्तामणेः कनकमध्यनिवेशनं य-
त्कल्पद्रुमस्य यदि वा जलसेकचिन्ता ।

यत्नप्रवृत्तिरुत वा सुरभेस्तृणानां
या स्यादुदात्तहृदयानुपकर्त्तुमिच्छा ।।
सद्भिस्तदप्युपकृतादपि कश्चिदंश-
स्वीकार्य एव लघुताशमनाय तस्य ।
नाग्राहि विश्वभयदे किल कालकूट-
व्याधौ हृते शशिकलाप्युदधेर्मृडेन ।।
एवं स्थिते किमपि यत्कथयामि नाम
तत्कार्यमेव भवता मदनुग्रहाय ।
धामत्रयीनयनभासितसर्वलोकः
किं चंद्रमौलिरपि नेच्छति दीपदानम् ।।

आशय—आप लोभ-रहित हैं, अतः आपसे मैं क्या कहूँ ! अब यदि मैं यह कहूँ कि मेरा मन आपका प्रत्युपकार करना चाहता है, तो मुझे धिक्कार है; क्योंकि यह उक्ति अनीतिज्ञों की सी होगी । शिव से क्षीर-समुद्र पाकर क्या उपमन्यु मुनि का शिव को क्षीर कलश से प्रसन्न करना युक्त हो सकता था ? इसमें सन्देह नहीं कि जैसे कोई चिंतामणि को सुवर्ण में स्थापित करने की चिंता करे, कल्पद्रुम के लिये जलसिंचन की चिंता करे, कामधेनु के लिये तृण प्राप्त करने को व्यग्र हो, वैसा ही उदारचरितों का प्रत्युपकार करने की इच्छा करना है । परंतु तो भी उपकृत की लघुता को बचाने के विचार से उपकारक महानुभावों को कुछ न कुछ ग्रहण करना उचित ही है । देखिए, शंकर ने विश्वभयदायी कालकूट को अपने कंठ में रख सागर का कितना महान् उपकार किया ! भला इस अप्रतिम अनुग्रह का क्या प्रत्युपकार हो सकता है ! तो भी समुद्र की लघुता को बचाने के विचार से शिव जी ने उससे एक शशिकला ग्रहण कर ली । अतएव मैं भी आप से जो एक नम्र निवेदन करता हूँ, वह मुझ पर दया करने के विचार से आप स्वीकार करें । देखिए, क्या श्रीशंकर भगवान्,

जिनके ज्योतिरूपी तीनों नेत्रों से त्रिभुवन प्रदीप्त हो रहा है, दीपदान की इच्छा नहीं रखते ?

हे निरहंकार-बुद्धि ! सुनिए, शकम्भर नामवाले मेरे पूज्य पिता इस अरण्य में निवास करते हैं। उनके उग्र तप के कारण देवी पार्वती यहीं साक्षात् होती हैं। मेरे पिता जी की कीर्ति के लिये उन्होंने स्वयं अपना नाम शाकंभरी ग्रहण कर लिया है। सुरनदी गंगा ने जो भागीरथी नाम ग्रहण किया था, वह नाम भगीरथ के पुण्य-पुंजों का ही तो सूचक है। मैं भी उनके दर्शनों के लिये समय समय पर विद्याधरेन्द्र नगर से यहाँ आया जाया करता हूँ। मैंने निस्सन्देह देवी का निर्दोष प्रसाद-फल प्राप्त कर लिया जो आज मेरे सामने है। सच समझिए, बिना देवताओं के अनुग्रह के आप जैसे महानुभाव के दर्शन असंभव हैं।

अब आप अपनी सेना को तो लौटा दीजिए और रात को घोड़े पर चढ़कर बिना पीछे की ओर देखे हुए, भूमि में अपना भाला मारकर अपनी राजधानी को पधारिए। बस इतना सा और उपकार मुझ पर कीजिए। यह कहकर विद्याधर अंतर्धान हो गया। सूर्य नारायण भी अस्ताचल को चले गए। तदनन्तर राजा ने वैसा ही किया। कुन्त के मारते ही भूमि से क्षार समुद्र उछल पड़ा, मानो राजा ने भूमि से कहा—

किं भूरिभिः किमिति नात्र निधिं प्रसूषे
लावण्यसारमसि धात्रि तमेकमेव।
इच्छापि येन न भवत्यपरेष्वितीव
कुन्तेन भूमिमथ भूमिधरो बिभेद ॥

आशय—हे धात्रि ! जिसके होते हुए अन्य निधियों की इच्छा ही नहीं रहती, उस प्रधान निधि लावण्यसार को तू क्यों नहीं प्रकाशित करती ?

राजा ने बड़े वेगवान् घोड़े पर सवार होकर प्रस्थान किया; परंतु

चंद्रोदय होने पर उसने अपने पीछे लवणसिन्धु की तरंगों का ऐसा शब्द सुना कि मानो उस वेगवान् वाजी को देखकर समुद्र अपने पुत्र उच्चैःश्रवा के भ्रम से उसके पीछे लपका आता हो। परिणाम यह हुआ कि उस विद्याधर के वचनों को याद रखते हुए भी राजा ने अति कुतूहल के वश हो पीछे को अपनी दृष्टि डाल दी; और ज्यों ही वह विस्मयाकुल हो यह सोचने लगा कि यह क्या है, त्यों ही विद्याधर ने उसे दर्शन दिए और कहा कि यह लवणसिंधु आपके कुन्त से अवतीर्ण हुआ है। और—

यन्नाम किञ्चन पतिष्यति वस्तुजातं
क्षारत्वमेष्यति तदत्र समस्तमेव ।
तेनाचरिष्यति न केवलमेव कीर्ते-
र्यावत्प्रतापदहनस्य तवानुवृत्तिम् ॥

आशय—जो कोई वस्तु इसमें गिरेगी, वह नमक हो जायगी, और संसार में आपकी कीर्ति को सुनते हुए अन्यों की कीर्ति फीकी पड़ जायगी।

चंद्रवंशियों का यशस्थान कुरुक्षेत्र, जिसकी सीमा पाँच योजन है, लोकान्तर में फलप्रद है; परंतु सूर्य-वंशियों का यह तीर्थ इस लोक और परलोक दोनों ही में फलप्रद है।

आशापुरीति नृपते कुलदेवता ते
शाकम्भरी भगवती च मयि प्रसन्ना ।
एते द्युसिन्धुयमुने इव सर्वकालं
रक्षिष्यतो लवणवारिनिधिं मिलित्वा ॥

आशय—हे राजन्! आशापुरी नाम की देवी आप की कुल-देवी हैं और शाकम्भरी देवी मेरे ऊपर कृपा दृष्टि रखती हैं। ये दोनों, गंगा यमुना के समान, मिलकर लवणाब्धि की रक्षा करेंगी।

आपके कुल में उत्पन्न पुरुष के सिवा अन्य किसी से यह लवणसमुद्र

उत्पन्न नहीं किया जा सकता। भला बाडव-धूम-जात मेघ कुल के सिवा और कौन तृषित समुद्र में पान करने को समर्थ है!

अधिक कहने से क्या, बस समझ लीजिये कि यह जलरूपी साक्षात् शाकम्भरी देवी आपके सामने हैं। इन्हें प्रणाम कर आप अपनी राजधानी को पधारिए। इतना कह विद्याधर अंतर्धान हो गया और राजा भी उस जल की परीक्षा के लिये उसका आचमन कर अपनी नगरी को सिधारा।

पंचम सर्ग—श्लोक १६३

सूर्यवंशी राजा दशरथ ने आखेट के प्रसंग में शाप पाया था। परंतु इस सूर्यवंशी वासुदेव ने प्रसाद प्राप्त किया। तदनंतर वह अपनी नगरी में आया। शाकम्भरी देवी से पालित भूमि को वासुदेव के वंशज भोगते हैं, अतः वे "शाकम्भरीश्वर" कहलाते हैं। फिर वासुदेव के वंशरूपी समुद्र के लिये चंद्रमा के समान, तथा मंडलेश्वरों की पंक्ति-रूपी कमलों के लिये सूर्य्य के समान "सामन्तराज" उत्पन्न हुआ। उसके "जयराज" (टीकाकार जयंतराज भी नाम देता है) नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसको देखकर राजगणों का तेज ऐसे नष्ट हो गया जैसे सूर्य के उदय से चंद्र का। उस मानी ने उद्धतों को नमाने और नमे हुओं को उन्नत करने की मर्ति रक्खी। उसके "विग्रहराज" नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। हरि के पाद से निकली हुई गंगा के समान उसके खड्ग से निकली हुई त्रिलोक-पावनी कीर्ति शैल और सागर को उल्लंघन कर गई। उसका ज्येष्ठ पुत्र ग्रंथकार चंद्रराज के समान सुवृत्तों (अच्छे छंद और आचरण-शील पुरुषों) को संग्रह करनेवाला "चंद्रराज" हुआ। सर्व भूतों के लिये उपयोगी होने से उसकी स्त्री पृथ्वी के समान सदा हृदय-ग्राहिणी हुई। उसका छोटा भाई "गोपेन्द्रराज" हुआ। चंद्रराज का पुत्र "दुर्लभराज" हुआ जिसने कीर्तिलता को खूब लहलहाया। गंगा-सागर के संगम में स्नान करके उठी हुई उसकी तलवार ने चिर काल तक गौड़ देश के रस का आस्वादन

कर ब्रह्मत्व प्राप्त किया। उसके "गोविन्दराज" नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह राज-निर्माण में ब्रह्मा, सन्धि-विग्रहादि षड्गुणों के प्रयोग में पुरुषोत्तम तथा प्रभुत्वादि शक्तियों के धारण करने में महेश्वर था। उसके रूप, यौवन और उल्लास की मूर्ति के समान "चंद्रराज" नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका पुत्र "गोवाक" सामादि उपायों (साम आदि वेदों में तथा साम, दाम, दंड आदि) में निपुण, षट्कर्मों (सन्धि आदि तथा अध्ययनादि) में पारंगत, मंत्राङ्ग-रूपी पञ्चाग्नि का मध्य भाग अर्थात् युद्ध-क्षेत्र में दृढ़ रहनेवाला, राजर्षि, प्रतापी, यशस्वी, शत्रुसंहारी हुआ। उसने त्रिभुवन-विलोभनीयाकृति अपनी बहन कलावती का, जिसके पाणिग्रहण की बारह राजा लालसा करते थे, विवाह कान्यकुब्ज के राजा से किया और उन बारह राजाओं को जीतने से जो संपत्ति प्राप्त हुई, वह सब उसे दहेज में दे दी।

गोवाक के पुत्र का नाम "चंदनराज" था। वह बहुत लोक-प्रिय और ऐश्वर्यशाली राजा हुआ। उसकी रानी रुद्राणी ने, जिसे योगिनी तथा आत्मप्रभा भी कहा करते थे, पुष्कर के तट पर एक सहस्र शिव लिङ्ग स्थापित कराए, जो वहाँ अंधकार का नाश करने के लिये मानो सहस्र दीपकों के समान सुशोभित होते थे।

चंदनराज के "वाक्पतिराज" नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह संसार के हित के लिये साक्षात् हर-प्रसाद था। उसने अपनी भुजाओं से १८८ विजय प्राप्त कीं और अपनी निर्मल बुद्धि से काल को तथा मन से काम को जीता। उसने पुष्कर में एक बहुत ऊँचा हर-मंदिर बनवाया जो कैलास के समान सुशोभित था। उसके "सिंह-राज" नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने भी पुष्कर में शंकर का एक सुंदर मंदिर बनवाया। सिंहराज के पुत्र का नाम "विग्रहराज" था। वह सापराधी शत्रुओं को दुर्बल जानकर उनके साथ दया का व्यवहार करता था। अपनी विपुल सेना के घोड़ों की टापों से उड़ी हुई धूलि

से सूर्य को "अनीलाभ्र" करते हुए उसने "खुररजो घोरान्धकार" नाम प्राप्त किया। उसकी सेना ने दक्षिण में नर्मदा नदी तक विजय प्राप्त की और गुर्जर (गुजरात) देश के राजा मूलराज को, जो कंथा दुर्ग (कंथकोट, कच्छ में) भाग गया, हराया था। उसने भृगु-कच्छ (भड़ौच) में आशापुरी देवी का एक सुंदर मंदिर बनवाया। उसके छोटे भाई का नाम "दुर्लभराज" था और उसका मंत्री "माधव" था। तदनंतर "गोविन्दराज" राजा हुआ जिसके यश का कवीन्द्रों ने खूब गान किया। उसका पुत्र "वाक्पतिराज" हुआ, जिसने कलि को कृत-युग और इस भूमि को स्वर्ग बना दिया। उसने अपनी छुरिका (तलवार से) आघाटपुर * के राजा अम्बाप्रसाद का मुख चीरकर उसे मार डाला। उसको वैरी लोग "गोत्रभिद् (इन्द्र)", वैरियों की स्त्रियाँ "दहन" (अग्नि), वैरियों के भट "मृत्यु", वैरियों के नगर-निवासी "राक्षसेश्वर", नीतिज्ञ "प्रकृष्टचेता" (प्रचेता = वरुण), रक्षा चाहनेवाले "सदागति" (पवन) और अर्थी लोग "धनद" (कुबेर) कहा करते थे। वस्तुतः अब तक राजा वाक्पतिराज जीवित हैं; क्योंकि और राजाओं को भूलता हुआ यह लोक उसे माला के समान हृदय में धारण किए हुए है।

उसका पुत्र "वीर्यराम" हुआ। वह अद्वितीय रण-रसिक था, परंतु अकस्मात् अवन्ति (मालवा) के राजा भोज से संग्राम में मारा गया। उसके भाई चामुण्डराज ने उसके स्मरण में नरपुर † में विष्णु का एक मन्दिर बनवाया। तदनंतर "दुर्लभराज" राजा हुआ; परंतु वह वीरसिंह मातङ्ग (हाथी, मुसलमान) संग्राम में मारा गया; अतः उसके अनुज "विग्रहराज" को राज्य का भार सँभालना पड़ा। उसने मालवे के राजा

---

* आघाटपुर को इस समय "आहाड़" कहते हैं। यह स्थान उदयपुर से दो मील पर रेल्वे स्टेशन उदयपुर के निकट है। मेवाड़ के राजा अम्बाप्रसाद की यहीं राजधानी थी।

† नरपुर को इस समय नरवर कहते हैं। यह किशनगढ़ राज्य के अंतर्गत अजमेर से ८ मील उत्तर की ओर है।

"उदयादित्य" को "सारङ्ग" नाम का एक तुरङ्ग दिया जिसकी सहायता से उसने गुर्जर देश के राजा "कर्ण" को जीता। उसके पुत्र का नाम "पृथ्वीराज" था। उसने सात सौ चालुक्यों को, जिन्होंने पुष्कर के ब्राह्मणों का धन हरण करने के विचार से वहाँ आक्रमण किया था, नष्ट किया, और सोमनाथ के मार्ग में अनवरत अन्नसत्र स्थापित किया। उसके "अजयराज" नामका पुत्र हुआ जो "सल्हण" भी कहलाता था। उस सौम्य राजा ने दीप्तिमान् मालवपति "सुल्हण" को ऐसे शमन किया, जैसे मेघ दवाग्नि को करता है। उसने इस दुर्वर्णमयी भूमि को रूपकों * (रुपयों और नाटकों) से परिपूर्ण कर दिया और कवियों ने उसे (भूमि को) सुवर्णमयी अर्थात् सुंदर साहित्य से परिपूर्ण कर दिया। उसकी प्रिय रानी सोमलेखा भी नित्य नए रूपक बनाती थी †। उस (अजयराज) ने सर्प से त्यक्त चंदनलता के समान निर्गर्वा श्री और निंदा-रहित कीर्ति प्राप्त की। जैसे कवित्व के बिना पांडित्य और द्रव्य के बिना यौवन नष्ट हो जाता है, वैसे बिना तेज के उसके शत्रुओं का बल नष्ट हो गया। उसने देव-मंदिरों में कई सुंदर बावड़ियाँ बनवाईं और म्लेच्छों को परास्त किया। उसने "अजयमेरु" नाम का एक नगर बसाया। इस नगर का यह नाम सार्थक है; क्योंकि मेरु पर देवता वास करते हैं और इसमें पुण्य-प्रभाव से ऐसी कोई बात ही शेष नहीं है, जो अन्यत्र हो और इसमें न हो। यहाँ निरंतर बड़े बड़े यज्ञ होते रहते हैं, जिनका धूआँ अधिक वृष्टि का कारण है। यहाँ के भवन ऐसे ऊँचे हैं कि उन पर चढ़ने से तारारूपी पुष्प तोड़े जा सकते हैं। मंदा-

---

* अजयराज (अजयदेव) के चाँदी और ताँबे के सिक्के मिले हैं, उन्हें विद्वानों ने कन्नौज के राजा जयचंद का मान लिया था। पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने यह भ्रम दूर कर उनका अजमेर के चौहान राजा अजयदेव का, जिसने अर्णोराज को जन्म दिया होना सिद्ध किया है, (देखो—इंडियन एंटिक्वेरी, जि० ४१, पृ० २०९-१०)।

† अजयदेव की रानी सोमलेखा के भी चाँदी और ताँबे के सिक्के मिलते हैं, जिन पर उसका नाम 'सोमलदेवी' मिलता है।

किनी हद की वंदना हो सकती है और सप्तर्षियों के तृतीय सवन का स्वर सुना जा सकता है। लोग जो यह कहा करते हैं कि कोई वस्तु या स्थान ऊँचा होने के कारण दिखाई देता है, यह ठीक नहीं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो बताओ, सब दिशाओं में दौरा लगानेवाले कलि ने इस नगर को क्यों नहीं देखा ! इस नगर में ऐसा कोई धार्मिक नहीं है जो अपना धर्म-कर्म कीर्ति की इच्छा से करता हो। यहाँ के राजमहल अत्यंत मनोहर हैं और पुण्डरीकों (कमलों) से, अच्छे दाँतवाले हाथियों से और अच्छे अच्छे अश्वों से सुशोभित हैं। आय कारण है, व्यय कार्य है। कारण के पीछे कार्य होता है; परंतु यहाँ सत्पुरुष पहले सन्मार्ग में व्यय करते हैं और पश्चात् धन प्राप्त करते हैं। यहाँ के लोगों का धर्माचार धन को बढ़ाता है और धन धर्माचार को। यहाँ की विविध बावड़ियों, कूओं, तालाबों और प्याउओं में उनके बनानेवाले स्वर्ग-वासियों का जीवन (जल और प्राण) ज्यों का त्यों दिखाई देता है। यहाँ के राजाओं के लिये वीर्य प्रताप का, प्रताप श्री का, श्री धर्म का और धर्म भोग और अपवर्ग का कारण है। यहाँ के लोग धर्म के अनुकूल अर्थ कमाते हैं, अर्थानुकूल विलास करते हैं; और उनका विलास भी मोक्ष मार्ग के अनुकूल होता है। त्रिलोकी के सार शंभु हैं; परंतु उनका भी सार उनकी त्रिनेत्रता है। तिस पर भी अधिक सारवान् चंद्र है, जिसकी उपमा यहाँ की कान्ताओं के मुख से होती है। यहाँ के निवासी झरोखों में बैठे बैठे स्वर्ग की गंगा की वायु का सेवन करते हैं। बेचारा वरुण समुद्र की सर्वस्वहारी वाड़वाग्नि से डरकर यहाँ के कूओं को सेवता है। यदि यह बात नहीं है तो बताओ कि यहाँ गिरि-दुर्ग में जल क्योंकर है ! स्त्रियों के केशों की सुगंधि के लिये जलाई हुई धूप का धुआँ पहले मकानों को, और उसके पीछे चंद्रमा को श्याम करता है। अन्य नगरों में चोर हैं, निर्दयी शासक हैं, वृष्टि के आधार पर होनेवाले खेत हैं, बहुत से निर्धन हैं,

काल से पीड़ित हैं, परंतु यहाँ ऐसी बातों का अभाव होने से कोई नगर इस अजमेर से बढ़कर नहीं हो सकता। यहाँ के सज्जन पुरुष पुष्कर में जाकर ब्राह्मणों का सत्कार करते हैं और वहाँ से घर लाए हुए जल के स्पर्श से शुद्धि मानते हैं। रत्नरूपी दीपक को हाथ में लेते हुए किसी बालक को देख धात्री संभ्रान्त हो "हा ! हा !" करती है, इसे देख चेट हँसते हैं और उसकी हँसी उड़ाते हैं कि तू मणि को अंगार समझती है। इस नगर की समृद्धि ऐसी है कि यहाँ के निवासियों के शरीरों से जो कर्पूर और कस्तूरी गिरती है, वह मार्ग में चलनेवालों के वस्त्रों को सितासित कर देती है। समुद्र पार की लंका नगरी, जिसे राम ने जीता था, और समुद्र के बीच की द्वारिका, जिसे कृष्ण ने बनाया, ये दोनों अजमेर की दासी भी बनने के योग्य नहीं हैं। यहाँ घर घर बाजों की ध्वनि होती है—

एवंविधामजयमेरुपुरः प्रतिष्ठां
कृत्वा सकौतुक इवाजयराजदेवः ।
दोर्वीर्यसंहृतनयं तनयं विधाय
सिंहासने त्रिदिवमीक्षितमुच्चचाल ॥

आशय—इस प्रकार के अजमेर नगर की प्रतिष्ठा कर भुज-बल और नीति-बल से युक्त अपने पुत्र (अर्णोराज) को सिंहासन पर बैठाकर अजयराजदेव मानो कौतुक के कारण स्वर्ग का देखने के लिये सिधारे।

छठा सर्ग—श्लोक ११२

इस सर्ग का प्रारंभ का भाग नहीं मिला है। जो प्रथम श्लोक उपलब्ध है, उससे ज्ञात होता है कि यवनों का अजमेर पर सबसे पहला आक्रमण अर्णोराज के समय में हुआ। म्लेच्छों की सेना प्राण हरे जाने के भय से भागने लगी। यह रौरव नरकवालों के लिये अच्छा समय था। साथ ही साथ भास्कर-मंडल का भी सौभाग्य था; क्योंकि

यदि वे म्लेच्छ रण में सन्मुख होकर मरते, तो अर्क-मंडल को भेदकर स्वर्ग सिधारते, न कि नरक की आबादी बढ़ाते। अजमेरवाले वीरों को जो कुछ शस्त्राघात से करना था, वह कुछ अंशों में अपने आप ही हो गया; क्योंकि भारी लोहे के कवचों के बोझ से ही बहुत से तुरुष्क मृत्यु के ग्रास बन गए। कई एक घोड़ों की गर्दनों में आयुध प्रहार कर रुधिर पान कर मर गए। कई एक मरे हुओं पर वायु, बालू उड़ा उड़ाकर मानों यवनोचित प्रेत संस्कार करने लगे। मुसलमानों की लाशों का जो ढेर मार्ग पर लग गया था, उसे गाँववालों ने दुर्गन्ध फैल जाने के भय से जलाकर दूर किया। अनगिनत लाशों को गीदड़ खा गए। अर्णोराज की सेना में से वीर-रस में चूर किसी योद्धा के स्वर्ग में जाने से क्षणमात्र यह पृथ्वी पवित्र हुई होगी, अन्यथा चांडालों के रक्त से चिर काल तक ढकी रही। शत्रुओं की अनेकों ध्वजा, वस्त्र, आभूषण आदि के इधर उधर फैले होने से बिना कोई प्रयत्न किए भी अजमेर नगर की शोभा विचित्र दिखाई देती थी।

महोत्सवः क्ष्मापतिना सुलग्ने
न ज्ञायते कुत्र स सूत्रितोऽभूत्।
अद्यापि यो रुद्धतुरुष्कयात्रं (त्रां)
तथैव सर्वामवनीमुपास्ते ॥

व्यापादि यस्मिन्नपवित्र सेना
स भूप्रदेशश्चिरकालमासीत्।
कङ्कालिकाकालिश्रृगालमाला-
मेलापकोलाहलकेलिरौद्रः ॥

विशुद्धिहेतोरथ तस्य राजा
घ्राणेन्द्रियाकस्मिकरौरवस्य।
अकारयत्कीर्तिपटीपिनद्ध-
क्षीरोदनमङ्करणं तटाकम् ॥

या पुष्करारण्य विहारशीला
मन्दाकिनीवेन्दुनदी प्रसिद्धा।
भगीरथस्सिन्धुमिव स्रवन्त्या
तया तटाकं तमपूरि देवः ॥

आशय—न जाने महाराज अर्णोराज के किस सुंदर स्थिर लग्न में यह रण-महोत्सव प्रारंभ हुआ था जो अब भी म्लेच्छों को यात्रा को रोक सारी पृथ्वी पर ज्यों का त्यों व्याप्त हो रहा है। वह भूप्रदेश, जहाँ अपवित्र सेना मारी गई थी, कंक पक्षियों, कौओं और शृगालों आदि के झुंडों के मिलने तथा चिल्लाने से नरक हो गया था। राजा ने दुर्गंधि की अधिकता के कारण उद्वेग-उत्पादक एवं साक्षात् रौरव नरक जैसे बने हुए उस स्थान को विशुद्धि के लिये कीर्ति रूपी परदे से ढके हुए क्षीर समुद्र को भी लज्जित करनेवाला एक तालाब* बनवाया और उसे पुष्करारण्य में विहार करनेवाली इंदु नदी (चंद्र नदी)† से वैसे भर दिया, जैसे भगीरथ ने मंदाकिनी से समुद्र को भर दिया। परंतु जहाँ सगर के पुत्रों के दुर्भाग्य से शंकर के शिखर (गंगा) का सुधा-सदृश जल खारा हो गया था, वहाँ अर्णोराज के पुण्य प्रताप से शाकम्भरी क्षेत्र को पाकर भी उस तालाब का जल सुधा सदृश रहा। उसने अपने पिता अजयराज के नाम से 'वारुण वाणलिंग' सहित एक बहुत ऊँचा मंदिर बनवाया। जैसे भूतल और स्वर्ग से उत्पन्न गंगा और चंद्रकला के साथ शंकर ने विवाह किया था, वैसे ही मरुभूमि की राजकन्या सुधवा और गुजरात के जयसिंह राजा की पुत्री काञ्चन देवी से अर्णोराज ने विवाह किया।

* यही वह तालाब है जो "आना सागर" कहलाता है। इसके पास का बाग, जो दौलत बाग कहलाता है, जहाँगीर ने और संगमरमर की बारहदरियाँ उसके लड़के ने बनवाई थीं। शोक का विषय है कि अर्णोराज के जीवन को साक्षात् रखनेवाला यह आनंद स्वरूप सरोवर ८०० वर्ष की आयु पाकर अब जीवनशून्य सा हो रहा है।

† अब इस नदी को बाँडी नदी कहते हैं और यहाँ से आगे बढ़ने पर यह लूणी कहलाती है।

सुधवा से सत्व ,रज और तम गुणों के अनुरूप तीन पुत्र, और काञ्चन-देवी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम "सोमेश्वर" रखा गया। ज्योतिर्विदों के मुख से यह सुनकर कि किसी कार्य शेष को संपादन करने के लिये सोमेश्वर के यहाँ पुत्र स्वरूप में राम उत्पन्न होंगे, राजा जयसिंह उसे अपने नगर को ले गया।

सर्वप्रकारं खलु संमुखोपि
तस्यानुरूपं तनयं विधाता ।
विधातुमल्पप्रतिभो यदासी-
त्ततो न तं सान्वयतां निनाय ॥
चतुर्मुखत्वे सदृशो विरिञ्चा-
द्विष्णोरलूनाननताविशेषः ।
देवस्तु पञ्चाननताविशिष्ट-
ष्षडाननत्वं गुहमानिनाय ॥
प्रकृष्टतामभ्यधिकामतोपि
स्रष्टुं पटुर्न ध्रुवमीश्वरोपि ।
अतः कुमारं विदधे कुमार-
मैच्छन्न तन्न्यूनसमान्ववायम् ॥

आशय—यद्यपि विधाता जयसिंह के सर्वथा अनुकूल था, तो भी उसके अनुरूप पुत्र उत्पन्न करने में असमर्थ होने से उसको सपुत्रता नहीं दे सका। विष्णु से चतुरानन ब्रह्मा, तदनंतर पंचानन शंकर उत्पन्न हुए, जिनका कुमार षडानन हुआ। जब इससे अधिक प्रकृष्ट संतान उत्पन्न करने में विधाता असमर्थ हुआ, तब उसने कुमार को कुमार ही छोड़ दिया।

राजा जयसिंह ने ज्योतिषी से कहा कि यद्यपि मैंने बहुतों के मुख से यह सुना है, कि सोमेश्वर के यहाँ राम अवतार लेंगे, परंतु मेरे

मन का संदेह दूर नहीं होता; क्योंकि "तदस्ति किञ्चन्नहि जीवलोके प्रियंवदानां न यदीरणीयम्"। दुनिया में खुशामदी क्या क्या नहीं कहते! आप विधाता के व्यवहार के उपदेष्टा हैं, अतः मुझ से इस विषय में संदेहरहित यथार्थ वचन कहिए; क्योंकि मैं तो इस कलि-काल में भगवान् के अवतार लेने को आकाश में चित्रकर्म, मरुस्थल में कल्पवृक्ष और पाताल में सूर्योदय के समान समझता हूँ। इस कलियुग में भला किस के ऐसे पुण्य हैं कि भगवान् उसकी कुक्षि को ऐसे पवित्र करें। जयदेवसिंह (जायसिंह) की ऐसी संकल्प-विकल्पात्मक बातें सुनकर ज्योतिषी हँसे और कहने लगे कि सुनो (लंका से लौटने पर) भगवान् रामचंद्र ने माता के चरणों में अपना शिर नवाया। तदनंतर सुग्रीव और विभीषण ने भी वैसा ही किया। तत्पश्चात् एक चरण में हनुमान और दूसरे में लक्ष्मण ने अपना सिर झुकाया। उस समय कौसल्या ने सहसा अपना पाँव खींच लिया और कहने लगीं—हे तपोधन, तुम तो मेरे बहुमान-पात्र हो। उस प्रसंग में कौसल्या ने लक्ष्मण के हृदय पर मेघनाद की मारी हुई शक्ति का सूक्ष्म व्रण-चिह्न देखा और व्याकुलता के साथ पूछा कि वत्स! यह क्या है? यह पूछने पर भी लक्ष्मण ने अपनी प्रशंसा से संकुचित हो कुछ न कहा और उस व्रण को निवारण करने के लिये द्रोणाख्य पर्वत को लानेवाले हनुमान भी, यह समझकर कि मेरे उपस्थित होते हुए भी कुमार लक्ष्मण को युद्ध करना पड़ा, लज्जित हुए। तब राम ने किस प्रकार शक्तिपात हुआ था और किस प्रकार हनुमान ने धन्वन्तरि बन लक्ष्मण की सहायता की, यह सब माता से विस्तारपूर्वक कहा और इन दोनों का अतुलित गुण गान करते हुए कहा कि हे माता! मेरी अब यही इच्छा है कि जैसे मुझ अग्रज की इस अनुज ने सेवा की है, वैसे मैं लक्ष्मण का अनुज बन उसकी सेवा कर उऋण होऊँ। मैं इन भोग-विलासों को व्यर्थ समझ इस लक्ष्मण की सेवा करता हुआ जटा जूट फेंक काषायधारी (वानप्रस्थ) बनूँ।

यह सुन लक्ष्मण ने कहा कि मुझे भोग की इच्छा नहीं है। मेरी तो वस्तुतः यह इच्छा है कि मैं सहस्र मूर्धावाला भोगी (शेषनाग) बन आनन्द-कन्द रामचंद्र के चरणारविंद से पवित्र की हुई पृथ्वी को अपने सहस्र शिरों से स्पर्श करूँ। हे राजन्! इस वार्तालाप का ही कृष्ण और बुद्ध अवतार रूप परिणाम है। कौसल्या दो पुत्रों को पुनरपि कैसे उत्पन्न करेगी, इस वार्ता को, हे राजन्! आप सावधानी से सुनो। देखो, यह चंद्रमा * त्रिलोकी का प्यारा नेत्र है, ब्रह्मादिकों का वाम नेत्र है, अत्रि मुनि और समुद्र का अयोनिज पुत्र है।

मयाष्टधा लोकहिताय चक्रे
कृता तनुष्षोडशधा त्वयैव।
इतीव यो मूर्धनि धारणीयः
परिश्रमज्ञेन महेश्वरेण ॥

आशय—शङ्कर भगवान् ने यह समझकर कि मैंने संसार के हित क लिये अपने तन को आठ † भागों में बाँटा; परंतु इस (चंद्रमा) ने तो अपने तन के मुझ से दुगुने अर्थात् सोलह भाग कर डाले, चंद्रमा को अपने मस्तक पर धारण किया।

उस चंद्रमा के प्यारा बुध उत्पन्न हुआ।

पक्षस्थिते दैत्यगुरौ विवादं
कृत्वा समं वाक्पति नान्वयार्थे।
य एव लेभे विजयप्रशस्तिं
श्रेयान्हि राज्ञः कविपक्षपातः ॥

---

* यहाँ से कवि चन्द्रवंश का वर्णन यह बतलाने को करता है, कि चन्द्रवंश में कौसल्या जन्म लेगी। उसका विवाह सोमेश्वर के साथ होगा और उससे राम लक्ष्मण रूप पृथ्वीराज और हरिराज दो पुत्र उत्पन्न होंगे।

† शङ्कर के आठ भागों से पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, यजमान, सूर्य्य और चन्द्र से अभिप्राय है, जैसा कि शाकुन्तला का नान्दी में भी "प्रत्यक्षाभिः प्रसन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः" निर्देश किया है। चंद्रमा के १६ भाग उसकी षोड़श कलाएँ हैं।

आशय—जब चंद्र और बृहस्पति में पुत्रार्थ विवाद हुआ, तब चंद्र की ही, जिसके पक्ष में शुक्र (कवि) थे, विजय हुई। अतः राजा को कवि का पक्षपात करना लाभदायक है।

उस चंद्रवंश में उर्वशी का पति पुरूरवा सुप्रसिद्ध चक्रवर्ती राजा हुआ। हरिश्चंद्र को नीचा और त्रिशंकु को ऊँचा करनेवाले विश्वामित्र, चक्रवर्ती भरत और सहस्रबाहु कार्तवीर्य भी उसी वंश में हुए। कार्तवीर्य कलिचुरि नाम से भी प्रसिद्ध हुआ।

तदनंतर उसी वंश में साहसिक नाम का एक राजा उत्पन्न हुआ वह बड़ा युद्ध-विचक्षण था। उसकी तलवार साक्षात् कालीदेवी थी। वह अपनी राजलक्ष्मी, तपस्वी वामदेव को गुरुदक्षिणा में देकर दिग्विजय के लिये निकला। उस भूपाल चूडामणि के तत्व को दैव भी नहीं जानता; फिर बिचारे मुझ चूडामणि नामक दैवज्ञ की तो क्या कथा! वह भ्रमण करता हुआ त्रिपुरी में सायंकाल के समय पहुँचा और उसने श्मशान की ओर से एक आर्तनाद सुना और वहाँ पाश खींचे हुए कालदूतों के समान तलवार हाथ में लिए कुछ पुरुषों से बाल पकड़े हुए एक मनुष्य को देखा, जिसकी वहाँ बलि होनेवाली थी। वह मनुष्य आक्रंदन कर कहने लगा—

यः कोपि वा साहसिकोस्ति लोके
यस्यास्ति वा क्षत्रियतावदाता।
कृपाकृपाणाभरणोस्ति यो वा
स पातु मां मृत्युभयादमुष्मात्॥

आशय—जो कोई साहसिक हो अथवा शुद्ध क्षत्रिय हो अथवा दयाखड्ग से भूषित हो, वह मुझको इस मृत्युभय से बचावे।

यह सुनते ही राजा साहसिक ने कहा—अरे अधम लोगो! तुम तुरंत इसे छोड़ दो; नहीं तो मैं अभी तुम्हारे प्राण ले डालूँगा।

यहाँ पर यह सर्ग खंडित हो जाता है। साहसिक का आगे का वृत्तान्त अज्ञात रह जाता है।

ज्योतिषी ने क्रमशः यही उपक्रमण किया होगा कि कौसल्या अब अचलराज की पुत्री कर्पूरदेवी के रूप में उत्पन्न हुई है।

सातवाँ सर्ग—श्लोक ५१

इस सर्ग के प्रारंभ के कुछ श्लोक विद्यमान नहीं हैं। इस समय जो श्लोक उपलब्ध हैं, उनमें यह वर्णन है कि एक ज्योतिषी राजा जय-सिंह को (भवानी का) कुम्भोदर नामक गण बतलाता है और कहता है कि एक समय आप जब सिंह का रूप धारण कर हिमाद्रिलताओं की रखवाली कर रहे थे, तब आपके स्वरूप से भयभीत हो इन्द्र का ऐरावण हाथी बहुत चिल्लाया, जिसके कारण सभा में जो एक नवीन कथा प्रसंग हो रहा था, वह भंग हो गया। पार्वतीने उसे गजानन का आक्रन्दन समझ आपको शाप दिया कि जैसे तू स्वतन्त्रता से राजा के समान इस वन में क्रीड़ा करने को प्रवृत हुआ है, वैसे महेश्वर के चरणों से दूरवर्ती होता हुआ तू भूतल में राजा ही हो। इस दुर्घटना के होने पर आपके निकुम्भ नामक मित्र ने सविनय गौरी से शाप की अवधि पूछी, जिसका उत्तर उसे यह मिला कि कलियुग में भी श्रीराम अवतार लेंगे। उस अवसर पर इस शाप की इति हो जायगी। इस वार्ता में आस्था करते हुए राजा जयसिंह ने षड्ङ्ग बल से राजाओं को जीता और अष्टाङ्ग बल (योग बल) से स्फटिकाचल (स्वर्ग) को प्रस्थान किया। तदनन्तर उसका उत्तराधिकारी गुर्जरराज-मुकुटमणि कुमारपाल उस (जयसिंह) की पुत्री कांचन देवी के कुमार सोमेश्वर का पालन करता रहा, जिससे उसका कुमारपाल नाम सार्थक हुआ। सुधवा के प्रथम पुत्र (जगदेव) ने तो अपने पिता अर्णोराज की वही सेवा की, जो परशुराम ने अपनी माता की की थी। स्नेहमय जनक का नाश कर, न केवल उसने अपनी निर्गुणता सिद्ध की, अपि तु अपना ही नाश कर बुझे हुए दीपक के

समान दुर्गंध पीछे छोड़ गया। कुमारपाल ने सोमेश्वर की वीरता से प्रसन्न होकर उसको तनिक भी अपनी आँखों के सामने से अलग नहीं होने दिया। सोमेश्वर ने कुङ्कण की चढ़ाई में एक हाथी से दूसरे हाथी पर कूदते हुए वहाँ के राजा (मल्लिकार्जुन) की तलवार छीनकर उसी से उसका सिर काट डाला। फिर सोमेश्वर ने त्रिपुरी * के राजा तेजल की पुत्री कर्पूर देवी से विवाह किया और उनका पारस्परिक प्रेम बहुत सराहनीय रहा। कालांतर में रानी गर्भवती हुई। उस समय भौम मकर में, शनि कुम्भ में, शुक्र मीन में, सूर्य मेष में, शशि वृष में और बुध मिथुन राशि में था। शेष ग्रहों के वर्णनात्मक भाग नष्ट हो गया हैं।

रानी क्रमशः पाण्डुवर्ण, कृश-शरीर और मंदाग्निवाली होने लगी और लोगों से उसने जब सुना कि तुम्हारा पुत्र निखिल भुवि का भोक्ता होगा, तब वह मिट्टी का आस्वादन करने लगी। उसके स्तन श्याम-मुखवाले और उसकी गति मंद होने लगी। यों वैशाख का महीना समाप्त हुआ और ज्येष्ठ मास की द्वादशी को उसके सर्वश्रेष्ठ, पराक्रमी, रूपराशि पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ।

आठवां सर्ग—श्लोक १०२

राजकुमार के उत्पन्न होने पर स्वर्ग और पृथ्वी पर नाना प्रकार के हर्षोत्सव होने लगे। आकाश में अप्सराओं का गान सुनाई पड़ने लगा, दिव्य दुन्दुभियाँ बजने लगीं और पुष्प-वृष्टि प्रारंभ हुई। पवन और पावक निरुपद्रव विहार करने लगे और शशि सूर्य मानों अपने कुल के उत्कर्ष को देखते हुए यश और प्रताप के भाजन बने।

गुणवद्भिर्वृता लक्ष्मीः पद्मैरस्मत्प्रसूतिभिः।
इति वैमल्यमाजग्मुरव्याजं सलिलाशयाः॥

---

* तेवर नाम से जबलपुर के निकट प्रसिद्ध है। यह कलचुरियों की एक शाखा की राजधानी थी।

आशय—जलाशय भी मानों इस विचार से कि हमसे उत्पन्न हुए इन गुणवान् कमलों से लक्ष्मी वर ली गई, निर्मलता को प्राप्त हुए।

पृथ्वी ने भी इस स्पर्धा से कि राजमहिषी के यहाँ जगन्निधि विष्णु उत्पन्न हुए हैं, हेम-कुम्भ प्रकट किया। धर्म-कर्म आदि क्रियाओं के विघ्न-विदारक कुमार के जन्म से सभी याज्ञिकों की अंतर-आत्मा आनन्दित हुई। राजा ने अदेय (जो छत्र और चामर) थे, उन्हें भी देकर पितृ-ऋण का निस्तार कर डाला। यों बहुत धूम धाम से पुत्र-जन्म-महोत्सव मनाकर सोमेश्वर देव ने भी—

पृथ्वीं पवित्रतां नेतुं राजशब्दं कृतार्थताम् ।
चतुर्वर्णधनं नाम पृथ्वीराज इति व्यधात् ॥

आशय—पृथ्वी को पवित्र करने के लिये, एवं राज शब्द को चरितार्थ करने के लिये राजकुमार का चतुरक्षर "पृथ्वीराज" नाम रक्खा।

धात्री ने श्रीखंड के समान श्वेत और कस्तूरी से लिप्त अग्र-भागवाले स्तन कुमार को पिलाए। धात्री के कंठाभरण के मुक्ता मणि को हाथ से पकड़ते हुए उस बालक ने मानों गिरि और सागर के सार को अपने हाथ में ग्रहण किया। बार बार "पर्वते पर्वते रामः" यह वचन धायों द्वारा शुकों को सिखाए जाते हुए सुन पूर्व जन्म स्मरण करता हुआ कुमार प्रसन्न हुआ। कुमार के कंठ में दशावतार-आभरण (अर्थात् ऐसा कंठा जिस में दश अवतारों के चित्र थे) पहनाया गया और उसमें व्याघ्र-नख भी लगाए गए। तदनंतर चूडाकरण संस्कार किया गया।

कुछ दिन बाद रानी पुनरपि गर्भवती हुई और माघ मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया के दिन दूसरा पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ, जिसका नाम "हरिराज" रखा गया। यों अपने भाई के पुत्रों से इस पृथ्वी को सुरक्षित समझ विग्रहराज शिवलोक पधार गए और उनका पुत्र अपर गांगेय भी, जो वीरत्व और ब्रह्मचारित्व से द्वितीय भीष्म सा था, इस लोक को त्याग गया। विद्या-विलासी विग्रहराज के स्वर्ग को सिधारने पर "कविबान्धव

इत्यंकं भूमावशरणं पदम्" ; 'कवि बान्धव' उपाधि पृथ्वी पर निराश्रय रह गई। अर्णोराज के पितृहंता पुत्र (जगदेव) का पुत्र पृथिवीभट भी मानों अपने चचा विग्रहराज को लौटा लाने के लिये यहाँ से प्रस्थान कर गया। अब राजलक्ष्मी इस सुधवा-वंश को, जिसमें से पुरुष रूपी मोती शनैः शनैः गिर रहे थे, त्याग कर सोमेश्वर के दर्शनों की अभिलाषिणी हुई। फिर महामात्य लोग सोमेश्वर को उसके दोनों राजकुमारों सहित सपादलक्ष देश में ले गए। इस प्रकार लक्ष्मी रूपी कर्पूर देवी, दान और भोग रूपी अपने दोनों पुत्रों (पृथ्वीराज और हरिराज) को साथ ले अजयराज के नगर में पधारी। सोमेश्वर ने उस स्थान पर, जहाँ पर उसके पिता और भाई ने प्रासाद मात्र बनाया था, अपने पिता के नाम से एक नगर बसाया। विग्रहराज ने जितने गिरि-दुर्ग नष्ट किए थे, उतने ही उस (सोमेश्वर) ने प्रासाद (देवालय) बनवाए, और उनके बीच में "वैद्यनाथ" का बड़ा प्रासाद बनवाया। वहाँ उसने अपने पिता की घोड़े पर बैठी हुई मूर्ति बनवाई और उसके सामने एक अपनी धातुमय मूर्ति विराजमान करवाई। उसने एक मंदिर में तीनों (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) देवों की मूर्तियाँ पधराईं। उसने अजयमेरु में पाँच देवालय बनवाए, जिनके कल्पवृक्ष के समान होने से अजयमेरु दुर्ग सुरद्रुमवाले सुमेरु के मद को पराजित करने लगा। उसने गङ्गानक ग्राम* में अनेक देवालय बनवाए, जिनके कारण मानों देवपुरी अमरावती की जनसंख्या न्यून होने लगी। पितृऋण से उत्तीर्ण हो पितृ-दर्शनाभिलाषी सोमेश्वर अपनी व्रतचारिणी महिषी कर्पूरदेवी की संरक्षा में अपने बालक पुत्र पृथ्वीराज को छोड़ स्वर्ग लोक को सिधारा। वहाँ एक पितृ-वैरि (जगदेव) को छोड़कर—जो लज्जा के कारण कहीं अंध तामिस्र में मग्न था—चाहमान से लेकर पृथ्वीभट पर्यंत सब के सब उसके वंशवाले उससे मिले। इंद्र ने

* इसे आजकल गंगवाणा कहते हैं। यह अजमेर से छः सात मील दूर है।

अपनी दृष्टि को कृतार्थ करने के लिये उसकी परिक्रमा की, और ज्योंही वह ऐरावण पर चढ़ने लगा, त्यों ही शंकर के किंकर उस सोमेश्वर को कैलाश ले गए। वहाँ सूर्य्य और चंद्र में उसके नेत्र मिल गए। गंगा ने उसके केश ग्रहण कर लिए। पुत्र के प्रति अब स्नेह रखना अयुक्त जानकर भस्म ने उसे रुक्त कर डाला और वह शिवसायुज्य को प्राप्त हुआ।

अस्मिन्क्रुद्धे न मे भाव्यमस्मिश्चंद्रकलाच्छलात्।
स्वचापपुष्पदाम्नेव तं मनोभूरपूजयत्॥

आशय—शिव के रुष्ट होने पर तो उमा के कारण जैसे तैसे मेरी फिर दाल गल गई, परंतु इस (सोमेश्वर = स + उमा + ईश्वर) के क्रुद्ध होने पर मेरा ठिकाना भी नहीं रहेगा, यह सोचकर कामदेव ने अपने धनुष की पुष्पमयी प्रत्यंचा से इनका सत्कार किया।

भूमेर्भरस्त्वदीयेन गृहीतस्तनयेन मे।
इत्यालिलिङ्ग चाकाण्डे तं स्वकीर्तिसितः फणी॥

आशय—तेरे पुत्र ने मेरा भू-भार ग्रहण किया है, यह समझ सहसा निज कीर्ति-रूपी श्वेत शेषनाग ने उसका आलिंगन किया।

पुत्र के राज्य को निर्मल करने के लिये उसने कलिकाल को कंठ में ऐसे धारण किया जैसे शिवजी ने विष को।

नवाँ सर्ग—श्लोक ८६

पति के शिवलोकवासी हो जाने पर कर्पूरदेवी ने अपने पुत्र के राज्य का कार्य सफलतापूर्वक चलाया। उस समय न तो कोई प्रजापीड़ा-सूचक धूमकेतु दृष्टिगोचर हुआ, न दुर्भिक्ष पड़ा, न क्लेशकारी अति-वृष्टि हुई, न सर्पों का सन्ताप रहा, न चूहों ने पृथ्वी खोदी। ऐसा कोई देश नहीं था जहाँ महाराज पृथ्वीराज की प्रतापाग्नि न पहुँची हो। भला फिर शलभों को तो प्रवेश की सुलभता ही कहाँ! शुकों के संचार की क्या चर्चा! प्रजा के उपद्रव का कहाँ अवसर! जैसे वर्षा ऋतु में

मेघों से गगनस्थली आच्छादित हो जाती है, वैसे ही शरद ऋतु में धानों से भूमि आच्छादित हो जाती थी। यज्ञों द्वारा अग्नि और वसन्त के अधिदेवता (अग्नि) को आहुति मिलते रहने से न वृक्ष पुष्पहीन हुए, न ग्रीष्म में पर्वतों में आग लगी, न अतिवृष्टि हुई, न अनावृष्टि, न हरिणों ने खेती को बिगाड़ा, न हानिकारक पवन चली और न पाला पड़ा।

वपुषा जितोप्यनुचरीकृतस्तथा
युवभिर्यथा परकलत्रदर्शने।
परिहृत्य कार्मुकशरौ करद्वया-
रिपद्धाति दृष्टिमिव पुष्पसायकः॥

आशय—बेचारा कामदेव पृथ्वीराज के शरीर-सौन्दर्य से ऐसा जीता गया और ऐसा दास बनाया गया कि वह अपने हाथों से तीर कमान फेंक युवाओं की दृष्टि को अपने हाथों से ढकता फिरता था अर्थात् कोई तरुण पुरुष कामी होकर पर-स्त्री-दर्शन नहीं करता था।

प्रति दिन स्थान स्थान में नए नए देवालय बनते थे। चत्वरों में द्विज वेद पाठ करते थे।

गणनातिगान्युपवनानि वापिका-
स्सरसीः प्रपाश्च दधती वसुन्धरा।
दिननायकस्य जगदेकचक्षुषो-
प्यधुनाश्नुते दशमभागदृश्यताम्॥
पृथिवी तथा सरसतामुपागता
नृपतेर्यशोभिरमृतातिशायिभिः।
समुदेति हस्तयुगमात्रकाद्यथा
प्रतिकूपकं जितरसायनं पयः॥

आशय—उपवन (बगीचे), बावड़ियाँ, तालाब और प्याऊ तो इतने असंख्य थे कि उनके कारण सूर्य नारायण पृथ्वी का दसवाँ

भाग मात्र देख सकते थे। भूमि में कुछ ऐसी सरसता आ गई थी कि केवल दो हाथ की नीचाई में ही कूओं में अमृत को भी जीतनेवाला जल निकल आता था। मलिम्लुच (चोर, मलमास) अर्थात् मलमास को छोड़ कर अन्य कोई चोर नहीं था, अतः ब्राह्मणों के बालक तृतीय सवन में वेदध्वनि-द्वारा कलि (चोर और कलियुग) से वहाँ रक्षा करते थे। राजा की प्रतापाग्नि के सामने किसी का शस्त्र नहीं उठता था। कहाँ तक कहें, जैसे वरुण, प्रभंजन, हुताशनादि अष्ट मूर्ति शिव को सेवती हैं, वैसे ही उन्होंने इस राजा को सेया। रुद्रतेजमय महि-महेन्द्र (पृथ्वीराज) की माता ने अपनी ओर से एक नगर बसाया। यों कलियुग में भी पृथ्वी ने रामराज्य की सी सुख-संपत्ति भोगी। यह सब कर्पूरदेवी के पातिव्रत के पुण्य का परिणाम था। पृथ्वीराज के मन्त्री कदम्बवास को, जो सोने के से रंगवाला था, लोग हनुमान मानते थे और वह भली भाँति दशों दिशाओं में राजा के यश की रक्षा करता था। उस निपुण मन्त्री ने समस्त उपायों (साम, दामादि) से ऐसे काम किए, जिनके कारण यौवनोचित विजयों को पृथ्वीराज ने बाल्यावस्था में ही प्राप्त कर लिया। शेषजी ने दो सहस्र जिह्वाओं द्वारा जिन जिन विद्याओं का उपार्जन किया, वे सब की सब मिलकर पृथ्वीराज के मुख में आश्रय करती थीं। धनुर्विद्या में तो वह इतना प्रवीण हुआ कि स्वयं कामदेव यह विचार कर, कि यदि मैं इस धनुर्विचक्षण से चाप कला सीख लूँ तो शिव से निर्भय हो जाऊँ, उसकी सेवा में उपस्थित हुआ। राजा ने अश्वों और हाथियों के नियन्त्रण में भी अपूर्व सिद्धि प्राप्त की और तलवार चलाने तथा अचूक निशाना लगाने में वह बड़ा ही विचक्षण हुआ। वह विनयानुगत यौवन-संपन्न राजा समस्त राजविद्याओं में पारंगत हुआ।

स पुनर्मदग्रजसुतासुतो भव-
न्द्विभुजोपि रक्षति चराचरं जगत्।

इति वार्तया कृतकूतूहलः क्रमा-
द्भुवनैकमल्ल इति बन्धुराययौ ॥

आशय—मेरे बड़े भाई की पुत्री का पुत्र अर्थात् पृथ्वीराज अकेला ही सारी पृथ्वी का भार उठा रहा है, यह मन में विचार कर भुवनैकमल्ल भी वहाँ (अजमेर) आ गया।

पृथ्वीराज का भाई हरिराज भी क्रमशः बड़ा हुआ। पूर्व काल में मेघनाद ने सर्पास्त्र-द्वारा रामलक्ष्मण को पीड़ा पहुँचाई थी। यही विचार कर मानो गरुडरूपी भुवनैकमल्ल रामलक्ष्मण के अवतार रूपी इन दोनों भाइयों के पास रहकर सेवा करने लगा, और उसने नागों (नागवंशियों) को वश किया। अचलराज की पुत्री कर्पूरदेवी अपने दोनों पुत्रों से ऐसे सुशोभित हुई जैसे पार्वती गणपति और कुमार से।

दसवाँ सर्ग—श्लोक ५१

पृथ्वीराज के लोकोत्तर यौवन को सुनकर सब राजकन्याएँ उसकी कामना करने लगीं। अनुकूल विधि ने बहुत बार पृथ्वीराज के लिये रण-महोत्सव उत्पन्न किए। एक बार भाग्यशाली और बलशाली राजा विग्रहराज के विवेकशून्य पुत्र नागार्जुन ने "गुडपुर" पर चढ़ाई की। समाचार सुनते ही भुवनैकमल्ल और कदम्बवास को साथ न लेकर पुरुषार्थी पृथ्वीराज ने बहुत से हाथी, घोड़े, ऊँट, बैल और पैदल सेना सहित तुरंत युद्ध के लिये प्रस्थान किया। सेना के पटह आदि बाजों की घनघोर ध्वनि प्रारंभ हो गई और वैजयन्ती पताकाएँ फहराने लगीं। विपक्षी सामना नहीं कर सके और परिणाम यह हुआ कि—

अवनिपतिभयादुपेत्य पार्श्वं
सह चलता कलिनेव दत्तशिक्षः।
दयितमपि विमुच्य वीरधर्मं
क्वचिदपि विग्रहराजभूरयासीत् ॥

आशय—विग्रहराज के पुत्र नागार्जुन ने मानों पृथ्वीराज से भयभीत होकर अपने साथ साथ चलनेवाले कलि से सलाह करके प्यारे वीरधर्म को भी छोड़ दिया, अर्थात् वह रण से भाग गया।

स्वामी-हीन-समूह बिना सिरवाले शरीर के समान होता है, यह कहावत सत्य सिद्ध हुई; क्योंकि नागार्जुन के भाग जाने पर उसके भटों के सिर सहज में ही छेद दिए गए और पृथ्वीराज नागार्जुन की माता को कैद कर अपने साथ ले आए और सुभट शत्रुओं के मस्तक अजय-मेरु दुर्ग के तोरण पर रखवा दिए।

पश्चिमोत्तर दिशा में, जो घोड़ों के लिये सुप्रसिद्ध है, गर्जन देश गोरी के हाथ आ गया था। उसने यह सुनकर कि पृथ्वीराज ने म्लेच्छों का नाश करने की प्रतिज्ञा की है, एक दूत भेजा। इस दूत का सिर गंजा था और ललाट अति विशाल था, मानों विधाता ने निर-वधि कपिला वध की प्रशस्ति लिखने के लिये ही उसे इतना विस्तीर्ण बनाया हो। उसकी दाढ़ी, पलक और केश उस देश की द्राक्षा (अंगूरों) के समान कपिल वर्ण के थे। उसके चिकुरों (सिर के केशों) के साथ साथ उसके मूर्धन्यवर्ण (ट, ठ, ड, ढ, ण) भी लुप्त हो गए थे। वह कोढ़ी सा दिखाई देता था और काला चोगा पहने हुए था। (यहाँ से आगे दो तीन पन्ने गल गए हैं, अतः दूत के वार्तालाप आदि का पता नहीं चल सकता।)

इसके आगे नड्वल (नड्डूल, नाडौल) नामक दुर्गपर असुरों की चढ़ाई का हाल सुनकर पृथ्वीराज का क्रुद्ध होना बतलाते हुए इस सर्ग की समाप्ति होती है।

ग्यारहवाँ सर्ग—श्लोक १०५

पृथ्वीराज को बहुत क्रुद्ध हुए देख धीर वीर कदम्बवास मंत्री ने कहा—

राजन्नवसरो नायं रुषां भाग्यनिधेस्तव।
किं क्रमेलकभक्ष्येषु तार्क्ष्यः फणिषु कुप्यति॥

आशय—राजन् ! आप जैसे भाग्यशाली के लिये यह रोष करने का अवसर नहीं है। भला, जिनको ऊँट भी खा जाय, ऐसे सर्पों पर गरुड़ अपना पराक्रम क्या दिखलावे !

जैसे तिलोत्तमा के लिये सुन्द और उपसुन्द नष्ट हुए, वैसे ही मनोज्ञ लक्ष्मी के उद्देश्य से आप के शत्रु स्वयं नष्ट हो जायँगे। मंत्री यह कह ही रहा था कि प्रतिहार ने आकर निवेदन किया कि गुर्जरमंडल से पत्र लिए हुए एक दूत आया है। राजा ने उसे तुरंत अन्दर बुलवाया और उससे गुजरात के राजा-द्वारा गोरी सुलतान का घोर पराभव सुना।

द्विजराजो मम भ्राता द्विजराजाश्रयः पतिः।
कथं मातङ्गसङ्गो में न्याय्य इत्युज्झितं श्रिया॥

आशय—वस्तुतः लक्ष्मी ने यह देखकर, कि द्विजराज (चंद्रमा, ब्राह्मण) मेरा भाई है और द्विजराज (ब्राह्मण, गरुड़) मेरे पति का वाहन है, मैं भला मातङ्ग (चांडाल) के साथ क्योंकर रहूँ, उस गोरी को छोड़ दिया।

तदनन्तर पृथ्वीभट ने कहा कि राजन ! आपको, कदम्बवास जैसा कार्य-साधक मंत्री पाकर, अपना धन्य भाग समझना चाहिए। तिलोत्तमा के समान यह पृथ्वी एवं राजलक्ष्मी आपमें अनुरागिणी है। यह सुनते ही पृथ्वीराज ने पूछा कि यह तिलोत्तमा कौन है ? पुरावृत्तज्ञान में व्यास के समान बन्दी पृथ्वीभट ने उत्तर दिया कि राजन् ! उस त्रिभुवन-विहार-रंगस्थली के विषय में मैं क्या कहूँ ! हे देव ! जहाँ आपके पूर्वजन्म का चरित चित्रित किया हुआ है, वहाँ तनिक निहारिए। वह सीता की भी प्रतिस्पर्धिनी है। इन वचनों को सुन तिलोत्तमा के दर्शनाभिलाषी पृथ्वीराज ने गुजरात के राजा के दूत को संतुष्ट कर विदा किया और मंत्री को भी सीख दी। फिर पृथ्वीभट के साथ चित्र-मंडप में गया। वहाँ पर पृथ्वीभट ने रामाव-

तार के पूर्व चरित की प्राय: प्रत्येक घटना के चित्र राजा को दिखलाए। (इसका वर्णन जयानक ने इस सर्ग के २५ वें श्लोक से लेकर ९९ वें श्लोक तक किया है। ये बातें लोक-विदित हैं, अतएव इनको यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं है।) अंत में रावण के संहार के पश्चात् राम के राज्याभिषेक का वर्णन कर कवि लिखता है—

आ देवाद्दिवसेश्वराद्दशरथं यावत्सदेश्ये कुले
सर्वस्मिन्ननरण्यमन्युशमने प्रस्ताविते नाटके।
स्वत्र स्वत्र महर्षिरेष भरत: पात्रक्रमे मेनका-
मुख्यानाममरावतीमृगदृशां शिक्षागुरुर्लक्ष्यते॥

आशय—यह देखिए, सूर्य से लेकर महाराज दशरथ तक ये सब आपके पूर्व पुरुष आकाश में विराजमान हैं। "अनरण्यमन्युशमन" नाटक खेला जानेवाला है। अत: देखिए। ये महर्षि भरत मेनकादि अप्सराओं को पात्रक्रम में जमाते हुए दिखलाई दे रहे हैं। और देखिए, वही यह तिलोत्तमा है जिसके लावण्य के पीछे सुन्द और उपसुन्द कट मरे थे। यह सीता का अभिनय करेगी। पृथ्वीभट के मुख से पूर्वजन्म का चरित्र सुन राजा उत्कण्ठित हुआ और चित्रस्थित तिलोत्तमा ने राजा को भी चित्रस्थित के समान कर दिया।

बारहवाँ सर्ग—श्लोक ७८

अमृत पुष्करिणी तिलोत्तमा के दर्शन से पृथ्वीराज महाराज की दर्शन-तृप्ति नहीं हुई। राजा के नयन, श्रवण और मन में कामदेव सहसा ऐसा प्रदीप्त हुआ कि मानो युगपत् अपने पाँचो बाणों को लक्ष्य पर मार कृतकृत्य हो चुका हो। मैंने पिनाकी के अग्नि स्वरूप नेत्र में प्रवेश किया और फिर निकल भी आया था, यही सोचकर कामदेव इस प्रबल प्रतापी राजा के पास बिना त्रास चला गया। कामदेव यह विचार कर, कि नितान्त उमा का उपकार करने के विचार से

पास आये हुए भी मुझको जिसने जला दिया उस हर को यह पूजता है, इससे युद्ध करने को तत्पर हुआ। चतुर आशुकारी काम ने "मारण" नामक शर के अतिरिक्त शेष चारों (उन्मादन, तापन, शोषण, स्तंभन) बाण राजा पर मारे, जिसका परिणाम यह हुआ कि तिलोत्तमा चारों द्वारों से राजा के मन में सुदृढ़ विराजमान हो गई। राजा संमोहित हुआ, निद्रा से पीड़ित हुआ, संतप्त हुआ और प्रलाप करने लगा एवं स्पष्ट रूप से उसके चतुर्भूमिक मनोगृह में अप्सरा तिलोत्तमा ने आत्मसात्करण प्राप्त कर लिया (अर्थात् अपना प्रभाव जमा दिया)। इन्द्र की अत्यन्त सेवा कर तिलोत्तमा ने एक बार प्रसाद में "अणिमा" शक्ति प्राप्त की थी; उसीके द्वारा उसने राजा के हृदय में प्रवेश किया।

युवभूपरिरम्भसाक्षिणः प्रथमे स्मो वयमेव भूभुजः।
इति नूनमहर्षि रोमभिर्मकराङ्काशुगपत्त्रवात्यया ॥

आशय—तिलोत्तमा के आलिंगन के सब से प्रथम साक्षी हम ही हैं, मानो ऐसा समझ रोम, कामदेव के शीघ्रगामी बाणों के पत्रों की पवन से प्रकम्पित हो, प्रहृष्ट हुए। राजा ने उसे पुरस्थित चित्र की अपेक्षा अपने हृदयरूपी चित्र में कहीं अधिक रुचिर लिखी हुई देख उसको अपनी स्त्री समझा।

पृथ्वीराज की इस सुरसुन्दरी में ऐसी प्रबल आसक्ति देख पृथिवीभट अपनी करतूत पर पछताने लगा, कि ऐसा अनर्थकारी और संशयवाला आलेख्य गृह मैंने राजा को क्यों दिखाया, जिसमें घुसते घुसते ही राजा का मन मनोज के शर का लक्ष्य बन गया।

क ललाम तिलोत्तमा दिवः प्रभुता च क मनुष्यमण्डले।
अथवा पुरुषस्य नेदृशी घटनेयं पुरुषोत्तमं विना ॥

आशय—कहाँ तो स्वर्ग की ललाम ललना तिलोत्तमा और कहाँ इस बेचारे पुरुष लोक में पुरुष की प्रभुता! अथवा पुरुषोत्तम के बिना पुरुष की ऐसी घटना क्योंकर सम्भव है?

यह अनर्थकारिणी मानसिक व्याधि मेरा नाश करने के लिये पर्याप्त थी, यदि इसका मूल कदम्बवास से उत्पन्न न हुआ होता; क्योंकि पहले उसने ही स्वर्गीय तिलोत्तमा की चर्चा की थी; अतएव वही अवश्यमेव शीघ्र ही इस संकट से उद्धार करेगा। क्या ही अच्छा हो, यदि तिलोत्तमा अपने आप ही हमारे स्वामी के महल में आ जाय! क्या इन्दुमती के रूप में स्वर्ग की "हरिणी" नामक अप्सरा ने अज की सेवा नहीं की थी? यों बुद्धि-बल से दुस्तर चिन्ता रूपी समुद्र को पार करते हुए पृथिवीभट को आकाशवाणी ने कहा—

त्वयि पार्थिव चित्रपुत्रिका चिरसंदर्शनबद्धलोचने।
स्मयमान इवादिपुरुषो रविरन्तर्गगनं विलम्बते॥

आशय—हे राजन्! वह सुरलोक की कन्या जो चित्र में चित्रित है, तुम्हारे दर्शनों की प्यासी है। तुम्हारा पूर्वज सूर्य आकाश के मध्य में रथ को ठहराकर तुम्हारे लिये हँस रहा है। अर्थात् मध्याह्न का समय हो गया है।

यदि ये शब्द सीधे राजा से ही कहे जाते, तो काम-मोहित होने से इन पर कदाचित् उसको विश्वास न होता, इसलिये विधाता ने मागध पृथिवी-भट से ही कहे। तिलोत्तमा ने राजा के नेत्रों और चित्त को चुरा रक्खा था, अतएव शेष कर्णादि इन्द्रियाँ भी अपने कामों में प्रवृत्त नहीं थीं। न वह कर्णों से बाहर का अमृत-स्रावी गान सुनता था, न हरिचन्दन से सिक्त शीतल भूतल की लालसा करता था और न ताम्बूल चबाता था। बड़ी कठिनता से वह चित्र-गृह से निकला और उसने मांगलिक आह्निक कार्य किए। बन्दी (पृथ्वीभट) भी राजा को छोड़ उस समय जब सूर्य मन्द-तेज हो गया था, वहाँ से विदा हुआ और नीचा मुख किए हुए मानों पृथ्वी से यह पूछता हुआ कि, वह सुवधू तिलोत्तमा तेरे पालक (राजा) में किस प्रकार अनुरागिणी होगी, चला जाता था। उस घड़ी उसकी दक्षिण भुजा और नेत्र

फड़के जिनसे वह स्वामीभक्त अपनी इष्ट-सिद्धि समझ शिथिल-चिन्ता हो अपने घर पहुँचा। भगवान करे, राजा की मनोकामना शीघ्र सिद्ध हो, यही वह विचार रहा था; इतने में किसी नए आए हुए पंडित के मुख से उच्चारण किया जाता हुआ निम्नलिखित श्लोक उसने सुना—

सलिलादपि निर्ययौ रसा(मा)
धरणेरप्युदपादि मैथिली।
दहनादपि याज्ञसेनिका
किमलभ्यं पुरुषार्थशालिनाम्॥

आशय—देखो! जल से लक्ष्मी, स्थल से सीता और अग्नि से द्रौपदी मिली, तो भला पुरुषार्थशालियों को क्या अलभ्य है?

पृथ्वीभट इन प्रोत्साहनशील शब्दों को सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और विग्रहराज के मंत्री पद्मनाभ को बुलाकर पूछा कि यह श्लोक किसने बनाया है और किसने उच्चारण किया है और यह कौन विपश्चित् बैठा है, जिसकी बड़ी भारी पगड़ी से उसका एक भी केश नहीं दिखाई देता। यह सुन वह बोला कि यह पंडित "महोदय" हैं, यह आपके दो पूर्व प्रश्नों का उत्तर है और यदि मेरे वचनों को सत्य समझें, तो यह कौन है, इस विषय का वर्णन करूँ। पृथ्वीभट ने कहा कि पद्मनाभ! तुम्हारे मुखारविंद में असत्य जलकण क्षणभर भी नहीं ठहर सकते, भला तुमने "यदि सत्य समझो तो" यह क्या कहा। यह सुन वह बोला—"धन्य हैं आप, आप दूसरे के गुणों को प्रकट करने में सूर्य और दूसरे के दोषों को छिपाने में महान् अन्धकार हैं। अच्छा सुनिए, ये शारदाक्षेत्र कश्मीर मंडल से आए हुए निगमागम-पारंगत पंडित और कवि "जयानक" हैं। श्रीशारदा इन्हें, जो पंडित और कवि भी हैं, उत्पन्न कर ऐसी प्रसन्न होती है जैसे पार्वती षडानन से"। इतना सुनकर भगवत् पूजन के कल्पवृक्ष के तत्क्षण-प्राप्त पके हुए फल का, जो जयानक कवि-पंडित का दर्शन है, आस्वादन लेने को वह (पृथ्वीभट) पधारा और

उससे सत्कारपूर्वक वार्तालाप करते हुए अपने देश से अन्यत्र यात्रा करने का कारण पूछा। (आगे सारा ग्रंथ नष्ट हो गया है)।

कौन जाने, शेष भाग में कवि ने क्या क्या लिखा था; परंतु जो भाग विद्यमान है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि कदाचित् इसके आगे कवि ने किसी राजकुमारी को तिलोत्तमा का अवतार वर्णन किया हो, जिसके साथ पृथ्वीराज का विवाह हुआ होगा। तदनंतर जलक्रीड़ा, ऋतुवर्णन, चंद्रोदयादि वर्णन, जो संस्कृत के महाकवि किया करते हैं, अवश्य किए होंगे। इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज के युद्ध और विजय का वर्णन तो अवश्यंभावी है। उसके बिना तो ग्रंथ का नामकरण ही सार्थक नहीं हो सकता। इतने पर भी ग्रंथ का जो अवशेष विद्यमान है, वह कितनी सारगर्भित एवं गौरवान्वित बातों से ओतप्रोत है, इसका पता पाठकों को ऊपर दिए हुए प्रत्येक सर्ग के संक्षिप्त विवरण से चल गया होगा।

इस ग्रन्थ का रचना काल ११९१ और ११९३ ई० के बीच अर्थात् पृथ्वीराज महाराज की विजय के पश्चात् और पराजय के पूर्व होना चाहिए।

[इस लेख में प्रत्येक सर्ग के श्लोकों की जो संख्या बतलाई है, वह मूल ग्रंथ के श्लोकों की नहीं, किंतु इस समय जो प्रति प्राप्त है, उसमें बचे हुए श्लोकों की है।]

(८) 'सुरे' शब्द की उत्पत्ति

[लेखक—ठाकुर चतुरसिंह, बड़ी रूपाहेली, मेवाड़]

राय बहादुर पंडित गौरीशङ्कर हीराचंद ओझा, राजपूताना म्यूज़ियम अजमेर के मुख्याधिकारी और भारतवर्ष के पुरातत्वज्ञ विद्वानों में से एक हैं। आपने आर्यावर्त के प्राचीन राजवंशों का और विशेषत: राजपूताने के राजवंशों का अत्यन्त श्रम से शोधकर अगणित ऐतिहासिक तत्वों का आविष्कार किया है। इस महान् उपकार से राजपूताने के क्षत्रिय तथा इतिहास-विद्यारसिक आपका नाम सादर स्मरण किया करेंगे। उक्त पंडित जी ने नागरीप्रचारिणी पत्रिका के त्रैमासिक नवीन संस्करण, भाग १ में "बापा रावल का सोने का सिक्का" नाम का निबंध बड़ी योग्यता से लिखा है। उसमें जो वृत्ताकार चिह्न है, उसको अनेक युक्तियों और प्रमाणों से सूर्य का सूचक सिद्ध किया है। उसी प्रसङ्ग में पृ० २५३-४ में लिखा है—"राजपूताने के राजाओं तथा सरदारों की ओर से ब्राह्मणों, देव-मंदिरों आदि को दान किए हुए खेतों पर उनकी सनदें शिलाओं पर खुदवाकर खड़ी की जाती थीं। ऐसे ही राजाओं की ओर से छोड़े हुए किसी कर आदि के या प्रजावर्ग में से किसी जाति की की हुई प्रतिज्ञा के लेख भी शिलाओं पर खुदवा कर गाँवों में खड़े किए हुए मिलते हैं। उक्त दोनों प्रकार के लेखों को यहाँ के लोग "सुरे" (फारसी शरह) कहते हैं। समय समय पर ऐसे सैंकड़ों नहीं हजारों शिलालेख अब तक भिन्न भिन्न अवस्थाओं में खेतों और गाँवों में खड़े मिलते हैं। ऐसे लेखों में से कई एक के ऊपर के भाग में सूर्य, चंद्र और वत्स सहित गौ की मूर्तियाँ बनी होती हैं।"

इसी प्रकार 'अनंद विक्रम संवत्' पर भी बड़ा विवाद हुआ था

और बड़े बड़े नामी यूरोपीय इतिहासवेत्ता जिसको स्वीकार कर चुके थे, उसको भी सैंकड़ों युक्तियों और प्रमाणों से पं० गौरीशङ्करजी ने " अनंद विक्रम संवत् की कल्पना" नामक विस्तृत लेख में कल्पित सिद्ध किया है और उसकी पुष्टि में जाली पट्टे-परवाने जो पेश किए गए थे, उनकी भाषा और लिपि को अर्वाचीन सिद्ध करने के निमित्त प्राचीन मेवाड़ी भाषा के प्रमाण में वि० सं० १५०६ का महाराणा कुंभकर्ण के आबू पर्वत के शिलालेख का फोटो तथा टिप्पणी सहित नकल नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग १, पृष्ठ ४५० में दी गई है। उसमें भी आप लिखते हैं—"इस लेख की भाषा उन पट्टों की भाषा से बहुत पुरानी है और इस में फारसी शब्द नहीं हैं, केवल सुरिहि फारसी "शरह" का तद्भव माना जा सकता है, जैसा कि टिप्पणी में बतलाया है।" फिर नीचे उसकी टिप्पणी में आपने शब्दार्थ लिखा है,—"सुरिहि– फारसी शरह ? नियम का लेख। (देखो पत्रिका, अंक ३, पृ० २५३–४) रोपावी–रोपो।"–यहाँ पर भी सुरिहि शब्द को फारसी शरह को तद्भव माना है; और साथ ही उपर्युक्त नोट देकर "बापा रावल का सोने का सिक्का" नामक लेख में सुरे की उत्पत्ति फारसी शब्द शरह से मानी है। उसका भी यहाँ पर फिर स्मरण दिलाया है। यद्यपि "शरह" लिखते समय उक्त पंडित जी को भी खटका तो अवश्य हुआ था, क्योंकि टिप्पणी में सुरिहि शब्द का अर्थ लिखते समय संदेह का साङ्केतिक चिह्न (?) शरह के आगे लगाया है, परंतु अधिक अनुसंधान न करके दोनों शब्दों के उच्चारण और अक्षरों की समानता मिल जाने से उसी को ठीक मान लिया।

इतना विस्तार से लिखने का मेरा मुख्य अभिप्राय केवल यही है कि पं० गौरीशंकर जी ने 'सुरिहि' और 'सुरे' शब्दों की उत्पत्ति कुछ संदेह के साथ फारसी शब्द 'शरह' से मानी है। इस पर विद्वानों को पुनः विचार करना चाहिए। मेरी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार निवेदन किया

जाता है, कि 'सुरे' नाम के गौ-मूर्तिवाले शिलालेखों के नाम 'सुरिहि,' 'सुरह', 'सुरे' आदि मिलते हैं। उनकी उत्पत्ति फारसी शब्द शरह से नहीं, किंतु संस्कृत शब्द सुरभी (गौ) से होना अधिक युक्ति-सङ्गत है। और ऐसा अनुमान होता है कि प्राचीन काल में वैसे लेख गौ के समान आदरणीय माने जाते हों; क्योंकि यह बात तो समस्त विद्वानों को विदित है कि संस्कृत शब्दों में जहाँ पर "भ" होता है, उसका प्राकृत में प्राय: "ह" हो जाता है। जैसे वल्लभ का 'बल्लह', दुर्लभ का 'दुल्लह,' गर्धभ का 'गदहा', आभीर का 'अहीर' करभ (ऊँट) का 'करहा' इत्यादि। उसी नियम से सुरभी का प्रथम अपभ्रंश रूप 'सुरही' होना चाहिए। इस का प्रमाण प्राकृत व्याकरण अथवा बौद्ध, जैनादि प्राचीन प्राकृत साहित्य में मिलता है। फिर उसका विकृत रूप 'सुरिहि' हुआ हो, जो महाराणा कुंभकर्ण के लेख में दो स्थानों पर लिखा गया है। वही शब्द फिर भी बिगड़कर 'सुरह' और 'सुरे' बोला जाने लगा हो *। इस प्रकार के शिलालेखों का नाम सुरभी (सुरे आदि) रखने का तथा उस पर गौमूर्तियाँ बनवाने का मुख्य उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि इसमें जो दान नियमादि लिखे गए हैं, उसका भंग करनेवाले को गौ-हत्या का घोर पाप होगा। इस भाव को पं० गौरीशंकरजी ने भी ना० प्र० प० पृ० २५४ में स्वीकार किया है; और यही बात महाराणा कुंभकर्ण ने प्राचीन मेवाड़ी भाषा के अपने लेख में खुदवाई है। यथा......"यात्रा मुगती कीधी

---

* यह भी अनुमान होता है कि महाराणा कुंभकर्ण के समय जनसाधारण बोल चाल में "सुरही" शब्द ही बोला जाता हो, परंतु भिन्न प्रकार की लेखनशैलीमें 'सुरिहि' लिखा गया हो; क्योंकि इस लेख में प्राचीन मेवाड़ी शैली से अनेक शब्दों में ह्रस्व इकार का अधिक प्रयोग मिलता है, जैसे—'राणा ने' को 'राणि', 'कुंभकर्ण ने' को कुंभकर्णि अचलेश्वर को 'अचलेश्वरि', 'भंडार मे' को भंडारि 'सन्निधानि में, को 'सन्निधानि', इत्यादि। उसी समय के आस पास के देशी भाषा के अन्य लेखों में ह्रस्व इकार का, जो तृतीया और सप्तमी विभक्ति का प्रत्यय था, इतना बाहुल्य पाया जाता है।

आघाट थापु सुरिहि रोपावी जिको आ विधि लोपिसिति इहि सुरिहि भाँगीं रूँ पाप लागिसि"......अर्थात् यात्रियों को (कर आदि) छोड़ कर जो नियम स्थापित किया है, और सुरिहि ('सुरभी' अर्थात् गौ मूर्ति) रोपी गई है, जो कोई इस विधि को लोपेगा, उसको 'सुरभी भंग' (गौ वध अथवा गौ मूर्ति भंग) का पाप लगेगा। इस लेख से स्पष्ट पाया जाता है कि 'सुरिहि' (सुरे) शब्द गौ-मूर्ति के ही अर्थ में लिखा गया है।

'सुरे' (सुरभी) नामवाले शिलालेखों के वास्तविक अर्थ 'गौमूर्ति' को तो कालांतर में लोग भूल गए, परंतु उसकी पवित्रता का वही प्राचीन भाव हमारे देश में आज तक प्रचलित है। क्योंकि देवमूर्तियों के समान 'सुरे' (गौमूर्ति) का तोड़ना फोड़ना तो दूर रहा, उसको उखाड़कर स्थानांतर में ले जाने में भी महापाप मानते आए हैं; और किसी के उत्तेजना देने पर भी मूर्ख ग्रामीण तक उसको अपने स्थान से हटाने का साहस न करेगा। इसका मुख्य कारण यही है कि जैसे अनेक देवी देवताओं की प्रतिमाएँ होती हैं, वैसे ही इस श्रेणी के दान और प्रतिज्ञा के धार्मिक लेखों को पुराने लोग गौ-मूर्तियाँ मानते थे। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि किसी शिलालेख पर गौमूर्ति होती है, किसी पर नहीं; फिर भी वे सब गौमूर्तियाँ कैसे मानी जाती होंगी? इसका उत्तर स्पष्ट है कि जैसे देव प्रतिमाएँ दो प्रकार की होती हैं, अर्थात् एक पर सुंदर खुदाई करके भैरव, शिव, देवी, हनुमान आदि का मनोहर रूप दिखाया जाता है, तो दूसरे प्रकार की मूर्तियाँ रूप-रहित ऐसी भी होती हैं कि बिना गढ़े स्थापित की जाती हैं। ऐसे पाषाण खंडों को स्वयंभू मानकर भैरवादि देवों का नाम मात्र रखने से लाखों मनुष्य उन्हें पूजते हैं; अर्थात् रूप (चित्र) से नाम को प्रधानता देते हैं। वैसे ही किसी पर गौमूर्ति हो अथवा न हो, तथापि दोनों प्रकार के शिलालेख केवल 'सुरे'

(सुरभी) नाम देने ही से गौमूर्तियों के समान माने जाते थे। देवमूर्तियों में और इनमें यह अंतर अवश्य पाया जाता है कि उनके समान इनकी सेवा-पूजा नहीं होती होगी। सुरे की पवित्रता और प्रतिष्ठा केवल इसी बात में थी कि वह शिलालेख, और उसमें लिखे गए दान-नियम आदि की प्रतिज्ञा सदा सुरक्षित रहें। और इस भाव का पालन आज तक होता है। *

सुरे (सुरिहि) शब्द के गौ के वाचक होने में अब भी किसी विद्वान् को संदेह हो, तो विस्तार भय से केवल तीन चार प्रचलित बोलचाल के प्रमाण देकर इस लेख को समाप्त करता हूँ। हमारे राजपूताने के ग्रामीण कृषिकार जब अपनी प्यारी गायों को प्रीति से आदर देते हैं, तब परस्पर कभी कभी कहते हैं कि "हमारी सुरे माता आज तो खूब चलकर आई है; या, सुरे माता आज कुछ भूखी है।" इसी प्रकार अनावृष्टि के समय भी करुणा से कहते हैं—"अरे भाई, हम पापी नरों के भाग्य से नहीं, तो भी सुरे के भाग्य से तो भगवान वर्षा करेगा।" ऐसे ही हिमालय प्रदेश की पहाड़ी गौ को, जिसकी पूँछ के चँवर बनाए जाते हैं, हमारे देशवासी 'सुरह गाय' अथवा 'सुरे गाय' नाम से पुकारते हैं। इसके अतिरिक्त स्वयं हमारे निवास स्थान "रूपाहेली" के जंगल में एक पुरानी बावड़ी है और उसके पास ही पीपल का बड़ा वृक्ष है। उक्त जलाशय से खेती नहीं होती, केवल गायों को पानी मिलने के निमित्त ही किसी धर्मात्मा ने उसे

---

* सुरे अर्थात् गौमूर्ति बनाने की युक्ति प्राचीन काल के दानग्राही ब्राह्मणादि विद्वानों की निकाली हुई प्रतीत होती है; क्योंकि उनके सहस्रों प्राचीन ताम्रपत्रों के देखने से ज्ञात होता है कि दान में मिली हुई भूमि, ग्राम आदि को अपने वंशजों के अधिकार में दृढ़ रखने के निमित्त सैकड़ों प्रकार की शपथें, प्रतिज्ञाएँ और भीषण पापों का भय उक्त दानपत्रों में लिखवाते थे, वैसे ही गौमूर्ति की युक्ति भी निकाली हो; क्योंकि पंचमहापातकों में सब से बड़े पाप गौघात के भय से कोई बलवान् पुरुष भी उसको छीनने का साहस न कर सके।

बनवाया था। उसको समीपवर्ती गाँवों के समस्त मनुष्य सदा से "सुरे बावड़ी" और वृक्ष को 'सुरे पीपली' कहते आए हैं। ऐसे और भी प्रमाण मिल सकते हैं; इसलिये स्पष्ट विदित होता है कि सुरे शब्द गौ के अर्थ में या गौमूर्ति के अर्थ में ही आज तक प्रयुक्त होता आया है। इसका फारसी शब्द शरह से कोई संबंध नहीं पाया जाता। उपर्युक्त विवेचन से दो प्रकार के ऐतिहासिक तत्त्वों का मौलिक उद्घाटन होता है। अर्थात् एक तो संस्कृत शब्द 'सुरभी' से प्राकृत में 'सुरही' और 'सुरिहि' होकर अंत में 'सुरह' या 'सुरे' रूप व्यवहार में आने लगा। दूसरी नवीन बात यह विदित होती है कि अनेक देव-प्रतिमाओं के समान प्राचीन काल में ऐसे शिलालेख सुरभी नाम से गौमूर्तियों के समान माने जाते थे। पीछे वास्तविक अर्थ भूल जाने से 'सुरे' शब्द की उत्पत्ति में अन्य कल्पना होने लगी; परंतु उसकी पवित्रता का वही प्राचीन भाव सर्वसाधारण में आज तक विद्यमान है। इस निबंध में केवल मेरे निज के विचार, कल्पना और अनुमान लिखे गए हैं। अब सत्यासत्य का निर्णय करना पुरावृत्तवेत्ता पाठकवृंद के अधीन है।*

---

* 'सुरे' शब्द की उत्पत्ति फारसी के 'शरह' शब्द से मानने में हमको भी भ्रम ही रहा, जिससे हमने उसके आगे संदेह का चिह्न रखा था; क्योंकि उस समय तक मेवाड़ की राजकीय लिखावटों में फारसी शब्दों का प्रवेश होना पाया नहीं जाता। परम विचाररसिक और इतिहासप्रेमी वयोवृद्ध श्रीमान् ठाकुर चतुरसिंह जी ने हमारा वह भ्रम मिटाकर उक्त शब्द की ठीक उत्पत्ति बतलाई, जिसके लिये हम उनके बहुत ही उपकृत हैं। संपादक।

(६) कवि जदुनाथ का 'वृत्तविलास'

(लेखक—राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर)

अनुमान १५ वर्ष पहले प्राचीन शोध के निमित्त मेरा जाना भरतपुर राज्य के बयाना नगर में हुआ, जिसका प्राचीन नाम 'श्रीपथापुरी' वहाँ के शिलालेखों में लिखा मिलता है। प्राचीन स्थानों तथा वस्तुओं का निरीक्षण करने के अतिरिक्त मैंने वहाँ के कई एक हस्तलिखित संस्कृत, प्राकृत और हिंदी के पुस्तक-संग्रहों को भी देखा। बोहरा छाजूराम के संग्रह में कई हस्तलिखित हिंदी पुस्तकें भी मिलीं, जिनमें से 'वृत्तविलास' और आनंदराम कृत गीता के हिंदी अनुवाद का पहले पता लगना मुझे मालूम नहीं हुआ था, जिससे मैंने उन दोनों पुस्तकों की आवश्यक टिप्पणी लिख ली। 'वृत्तविलास' हिंदी पिंगल का ग्रंथ है और उसका रचयिता कवि जदुनाथ प्रसिद्ध कवि चंद बरदाई का वंशज था। उसने करौली के राजा गोपालसिंह (गोपालपाल) की कीर्ति को चिरस्थायी करने के निमित्त उक्त ग्रंथ की रचना की और 'गोपालसिंह कीर्ति-प्रकाश' नाम से भी उसका परिचय दिया है। ग्रंथ के प्रारंभ में कवि ने करौली के राजवंश एवं अपने कुल का विस्तृत रूप से परिचय दिया है। ये दोनों विषय हिंदी साहित्य एवं ऐतिहासिक खोज के लिये उपयोगी होने से मैंने उन अंशों की पूरी नक़लें कर ली थीं जो नीचे लिखे अनुसार हैं—

करौली के राजवंश का परिचय

भये कृष्ण के वंश में विजयपाल महिपाल।
तिनके सुत परगट भये तिहुणपाल छितिपाल ॥ ६ ॥
अश्वमेध जिहि जग्य किय दीने अगनित दान।
हेम कोटि दस सहस गो गज सहस्र परिमान ॥ ७ ॥

बीस सह (स ह) य सात सै सासन दीने ग्राम।
धर्मपालु तिनके भये भूप धरम के धाम ॥ ८ ॥
कुँवरपाल तिनके भये भूपति बष (ख) तविलास ।
अजैपाल प्रगटे बहुरि कर्यो जगत प्रतिपाल ॥ ९ ॥
हीरपाल तिनके भये भूप मुकुट जिमि हीर ।
तिनके साहनपालु नृप साहस समुद गँभीर ॥१०॥
अनगपालु नृपु प्रगट हुव तिनके पृथ्वीपाल ।
तिनके सुत प्रगटे बहुरि राजपाल महिपाल ॥११॥
तिलोकपाल तिनके भये बापलदेव महीप ।
आसलदेव भये बहुरि सहसदेव कुलदीप ॥१२॥
घूघलदेव महीप हुव अर्जुनदेव भुवाल ।
भये विक्रमाजीत नृपु तिनके बखतबिलास ॥१३॥
अभेचंदु तिनके भये भूपति पिरथीराज ।
तिनके रुद्रप्रताप नृपु भये भूप सिरताज ॥१४॥
चंद्रसेन प्रगटे बहुरि सकल भूमि भरतार ।
आयो अकबर साहि जू जा नृप के दरबार ॥१५॥
अकबर बहु बिनती करी धर्यो न माथैं हाथ ।
देस दिये कर जोरि तब नाती दीनो साथ ॥१६॥
भये भारथीचंद जू तिनके सुव भूपाल ।
प्रगटे श्रीगोपाल सम तिनके सुत गोपाल ॥१७॥
भये भूप गोपाल के नृपति द्वारिकादासु ।
जाको परगट पुहमि पर भयो प्रताप प्रकासु ॥१८॥
भये बहुरि तिनके तनय श्रीमुकुंद महिपालु ।
सब जग में परगट भये तिनके नृप जगपालु ॥१९॥
तिनके सुत प्रगटे बहुरि छत्रपाल छितिपाल ।
छत्रपती छत्रिनि मनि नृप मनि बखतबिलासु ॥२०॥

छंद नाराच

भये महीप धर्मरूप भूप धर्म पालजू ।
कृपान दान जा समान आन को भुवालजू ॥
लए अनेक जैतपत्र शुद्ध जुद्ध मंडिकै ।
दवेदरीनि (?) जत्र तत्र सत्रु अत्रु छंडिकै ॥२१॥
नृपाल धर्मपाल के भुवाल रत्नपालु भौ ।
दयाल नंदलाल ज्यौं निहाल दीन जालु भौ ॥
प्रचंड दोरदंड सौ अखंड भूमि जीतिकै ।
दिशा सुपेत भीति सी करी सुनित्य कित्तिकै ॥२२॥

दोहा

नित्य नित्य जाको सुजसु बरनि सके न गनेसु ।
रतनपाल के सुत भयो कुँवरपाल सुनरेसु ॥२३॥

छंद हरिगीत

श्रीकुँवरपाल नृपाल को जसु जग्यो सकल जिहान में ।
कलि करनु सो दुखहरनु असरन सरनु विदित बषा (ख) न में ॥
किरवान दान समान जा सम सकति नहिं नृप आन में ।
भुवमान ज्यौं परताप जा सम साहिबी मघवान में ॥२४॥

छंद घनाक्षरी

मही मघवान महीपालु श्रीकुँवरपालु
जाको जस पूरन प्रसिद्ध देस देस भौ ।
छीरधि समान हिमवान सानुमान सीत
भान कै प्रमान दीप दीपनि मैं बेस भौ ।
भूधुर धरन जदुवंस आभरन कलि-
करन ज्यौं दीन दुष (ख) हरनहमेस भौ ।
संपति धनेसु महिमा करि महेसु
बुद्धि के गनेस भौ प्रताप के दिनेस भौ ॥२५॥

दोहा

भयो उदय दिन दिन निरषि (खि) बाढ्यौ प्रजनि अनंदु ।
कुँवरपाल कलि करनु भौ रतनपाल नृपनंदु ॥२६॥
दुखी न कोऊ देखियै निसि दिनु जाके देस ।
जदुकुल में परगट भयो दूजो भूमि सुरेस ॥२७॥
कुँवरपाल कै सुत भये भूपति श्रीगोपाल ।
जदुकुल में फिरि अवतरे मानो श्रीगोपाल ॥२८॥
अरिवर केसी कंस से करिवर वर संघारि ।
द्वै भुज ऐसे देखियै मनौ लसत भुज चारि ॥२९॥
चार्यौं चक्कनि मैं प्रगट जाको प्रबल प्रतापु ।
विविकर विलसत सहसकर उम्रो अर्क सम आपु ॥३०॥
सकल अवनि जिहि सोधिकै कालिय से खल काढ़ि ।
भयो चक्रधर सौं धरैं तेग चक्र तैं बाढ़ि ॥३१॥

छंद घनाक्षरी

बाढ्यो जाको चंदु परतापु नव खंडनि मैं
जगमग्यौ जाहिर जिहान जस जालु है ।
दुनी पर दीननि के दारिद विदारिबे कौ
देवतरु सम देख्यो कर को हवालु है ।
पथ्थ सो समथ्थ श्रीकुवरपालजू को लाल
जासौं जुरि जंग को गहतु करवालु है ।
श्रीजदु-नृपालकुल औतर्यो गुपाल सम
बखतविलास श्रीगुपाल महिपालु है ॥३२॥

सवैया

भूपति मैं दिपैं भानु समान
प्रताप अँतापनि की अधिकाई ।
जीति लई भुज दंडनि सौं महि
नित्य जगी जग कित्ति जुन्हाई ।

गोद्विज को प्रतिपालु करै
भयो दीनदयालु सदा सुखदाई ।
सिंघ गुपाल नृपाल की ह्याल
विसाल बढ़ी पुहमी प्रभुताई ॥३३॥

दोहा

प्रभुताई प्रभु जिमि करै पृथिवीपति गोपालु ।
सुखित रहे निसि दिन प्रजा निरखत बखत बिसालु ॥३४॥
भयो नंदसुत ज्यौं प्रगट कुँवरपाल नृपनंद ।
बस्यो धरम चार्यो चरन ज्याके देस बिलंद ॥३५॥
पूरब उत्तर आदि दे अरु दच्छिन दिस देस ।
सुन्यौ न ऐसो भूमि पर भयो न और नरेस ॥३६॥
सरस राजधानी लसै विदित करौरी नाम ।
बसत सकल नर सुखित जहँ पूरि रहे धनधाम ॥३७॥
त्रेता औधिपुरी भयो जैसो रघुवर राम ।
भयो करौरी त्यौं प्रगट नृप गुपाल इह नाम ॥३८॥
जैसी विलसी द्वारिका श्रीगुपाल प्रभु पाइ ।
तैसी नृप गोपालजुत लसति करौरी आइ ॥३९॥
ज्यौं अंबर अमरावती भोगवती पाताल ।
लसति करौरी भूमिपद त्यौं नृपजुत गोपाल ॥४०॥
प्रजा सुखित दिन रैनि जहँ चारि बरन सुभ कर्म ।
दुखी न कोऊ देखियै चलत आपने धर्म ॥४१॥
रीति जु वेद पुरान की सुनी सकल निरधारि ।
ताही मारग चलत हैं आश्रम बरन बिचारि ॥४२॥

छंद घनाक्षरी

संकर बरन सुन्यौ चित्र रचना में जहाँ
चोरी सुनि यति पर विपत्ति विलास की ।

धुजिनि में कंपु हिमकर में कलंकु सुन्यौ
छल सुन्यौ तहाँ जहाँ विद्या इंद्रजाल की।
वैदक में रोग सुन्यौ सपने वियोगु चित्त
चिंता सुनी जहाँ सबही के प्रतिपाल की।
औधि की सी रीति अधिकानी जगजानी ऐसी
राजे राजधानी श्रीगुपाल महिपाल की ॥४३॥

दोहा

कब चक्रपानी मैं सुनी जहाँ कालिमा नाहिं।
कनकदंड लखियै जहाँ एक छत्र ही माहिं ॥४४॥
मुखर जहाँ नूपुर सुनै चरचा में दिढ़बंध।
अश्रु होत मख-धूम सौं गजवर जहाँ मदंध ॥४५॥
बसत जहाँ गुणवंत नर चाप हि मैं गुणभंग।
लखै चाबुकनि मारियत केवल तरल तुरंग ॥४६॥
पुरी मधूरी ज्यौं लसी द्वारावती निक्षान।
त्यौं गुपाल नृपजुत लखी पुरी करौरी थान ॥४७॥
मदनमोहनहि आदि देव [ब]सत जहाँ सब देव।
करत सेव नरनारि जुत भुंमिदेव नरदेव ॥४८॥
सोभा देवालयन की विलसति अमित अपार।
कहौ कहाँ लौं वर्णि के होतु ग्रंथ-विस्तार ॥४९॥
तातै कछु कविकुल बरनि करिये छंद विचार।
ग्रंथनि को मतु देखि के निज मति के अनुसार ॥५०॥

अथ कवि-वंश

अनलपाल नृपबंस हुव पृथ्विराज चहुवान।
तिनके विरती सुरविदित चंदु भाद (ट) बुधिमान ॥५१॥
सिवजुत सेइ सकति तिन भए प्रगट सिवदेव।
तब तै जानत देवसम चाहुवान नरदेव ॥५२॥

सिवा सहित सिव वरु दयौ ह्वै प्रसन्न इक बार ।
बुधिवर बरदायक बिदित भये सकल संसार ।।५३।।
फिरि तिहि सेई सुरसरी चंद सुमति अवतार ।
स्नान होम जप स्तुति करी अरचा बारंबार ।।५४।।
ह्वै प्रसन्न गंगा तबहि सुनि निज नाम हजार ।
हार सहित कंकन दए तब तै कहै सहार ।।५५।।
एक लाख रासौ कियो सहस पंच परिमान ।
प्रथीराज नृप को सुजसु जाहर सकल जिहान ।।५६।।
ता कुल मैं परगट भये मयाराम बुधिवान ।
जिन पर सरस मया करी दिल्लीपति सुरतान ।।५७।।
बीसलदेव प्रसिद्ध भौ भूप भदावर थान ।
बिरती सु रहे आदि तै मानत नृप चहुवान ।।५८।।
अकबर साहि कृपा करी मौज दए दस लच्छ ।
तिनके सुत परगट भये दामोदर परतच्छ ।।५९।।
हय हाथी बकसीस दै साहिजिहाँ सुरितान ।
राव प्रताप खिताब दै जाहर किए जहान ।।६०।।
नंदरामु तिनके भये सोहति सुमति अनंद ।
थानसिंघु प्रगटे बहुरि नंदराम के नंद ।।६१।।
तिन पै सिंघकल्याण नृप कृपा करी बहु बार ।
तिलकु कर्यो राई दई दए लाखु द्वै बार ।।६२।।
रतनपाल महिपाल नै आदर कर्यौ बिसाल ।
निज जसु सुनि बकसे तुरत हयजुत मुतियन माल ।।६३।।
थानसिंघ के सुत भये धरनीधरु बुधिवानु ।
सिंघगुपाल महीप नै कर्यो सरस सनमानु ।।६४।।
धरनीधर सुव प्रगट हुव सुकवि विदित जदुनाथ ।
ग्राम दए कीनी कृपा श्री अनिरुध नरनाथ ।।६५।।

जदुकुल में गोपाल सम लख्यौ नृपति गोपाल।
तब तै यह इच्छा भई बरनौं सुजसु विलासु ॥६६॥
करतु विलासु गुपाल नृपु निरखत भयो हुलासु।
तातै कवि जदुनाथ यह बरन्यौ वृत्तविलासु ॥६७॥
पिंगल को मतु समुझि के निज मति के अनुसार।
कीनौ छंदनि कौ प्रगट पारावारु अपार ॥६८॥

यहाँ तक कवि अपने वंश का तथा अपना परिचय देकर आगे 'अथ गुरु अक्षर लछनं' लिखकर पिंगल के विषय को प्रारंभ करता है। पुस्तक का अंत इस तरह है—

"इति श्रीमन्महाराजाधिराज जदुवंसावतंस श्रीमहीपाल गोपालसिंह कीर्तिप्रकासे सुकवि जदुनाथविरचिते वृत्तविलासे दंडकप्रकरने वर्णवृत्तवर्णनं नाम द्वितीयोल्लासः ॥ समाप्तोयं वृत्तविलासः" ॥

ग्रंथरचना का समय

कवि यदुनाथ के लेख से ही पाया जाता है कि उसने अपना ग्रंथ 'वृत्तविलास' को करौली के राजा गोपालसिंह के समय में रचा। गोपालसिंह वहाँ के राजा कुँवरपाल (दूसरे) का पुत्र था और उसने वि० सं० १७८१ से १८१४ तक करौली पर राज्य किया था। अतएव वृत्तविलास की रचना वि० सं० १८०० के आसपास होना अनुमान किया जा सकता है।

करौली का राजवंश

वृत्तविलास हिंदी के पिंगल का उत्तम ग्रंथ होने के अतिरिक्त उसमें राजा विजयपाल से लेकर गोपालसिंह तक की करौली के राजवंश के ३१ नामोंवाली जो वंशावली दी है, वह कम महत्व की नहीं है। करौली के राजा मथुरा के यादवों के वंशधर हैं और उनका वंश बहुत प्राचीन है। परंतु विजयपाल के पूर्व की उनकी विश्वास योग्य वंशावली

नहीं मिलती। जनरल कनिंगहम ने मूकजी भाट की पुस्तक के आधार पर, महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास जी ने अपने 'वीर विनोद' में करौली के इतिहास के प्रसंग में और मेजर स्ट्रॅटन ने कप्तान पाउलेट के करौली के गॅजेटियर के आधार पर लिखी हुई शॉर्ट अकाउंट ऑफ करौली (करौली का संक्षिप्त वृत्तांत) नामक छोटी सी पुस्तक में करौली के राजवंश की नामावली देने का यत्न किया है, परंतु उन सब में कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य है। किसी में कुछ नाम रह गए हैं, तो किसी में कुछ अधिक हैं। उन सब से पुरानी वंशावली (जो आज से अनुमान १८० वर्ष पूर्व की लिखी हुई है) कवि यदुनाथ की है। उसी को मैं विश्वास योग्य मानता हूँ।

कवि का वंश

जदुनाथ अपने को प्रसिद्ध हिंदी कवि चंद बरदाई का वंशज बतलाता है और चंद के वंशधर मायाराम से अपने को छठा पुरुष बतलाता है। महत्व की दूसरी बात यह है कि जदुनाथ चंद के रचे हुए पृथ्वीराज रासे का परिमाण एक लाख पाँच हजार (श्लोक) होना बतलाता है। वह एक अच्छा कवि और चंद का वंशधर था, अतएव उसका यह कथन निर्मूल नहीं माना जा सकता। आजकल कई विद्वान् परंपरागत जनश्रुति के आधार पर चंद को हिंदी का आदि कवि मानने लग गए हैं और रासे की घटनाओं के बहुधा कल्पित होने का कारण यह बतलाते हैं कि चंद ने पृथ्वीराज रासा इतना विस्तृत नहीं लिखा था। वह तो छोटा सा ग्रंथ था, जिसमें क्षेपक मिलाकर पीछे से कवि लोगों ने उसको इतना विस्तृत कर दिया है। परंतु चंद का वंशधर जदुनाथ ही इस कथन को निर्मूल बतलाता है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री जी ने यह भी लिखा था कि चंद का मूल ग्रंथ उसके वंशधर जोधपुर के ब्रह्मभट्ट नानूराम के यहाँ विद्यमान है। मैंने उसको भी देखा, तो मालूम हुआ कि उसमें और

काशी की नागरीप्रचारिणी सभा के प्रकाशित किए हुए पृथ्वीराज रासे में कोई विशेष अंतर नहीं है। नानूराम की पुस्तक रासे का एक अंश मात्र ही है, न कि चंद का रचा हुआ संक्षिप्त रासा। रासे की रचना के समय के संबंध में भी वैसा ही भ्रम फैला हुआ है, जैसा कि अनंद विक्रम संवत् के विषय में फैला हुआ था। जो विद्वान् चंद को हिंदी का आदि कवि और सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं, उनसे मेरी नम्र प्रार्थना है कि वे एक बार रासे में अंकित की हुई घटनाओं एवं चौहानों की वंशावली आदि की प्राचीन शोध की कसौटी पर जाँच करें। यदि ऐसा करने पर यह सिद्ध हो जाय कि चंद सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन था, तो उसे हिंदी का आदि कवि मानना यथार्थ होगा। परंतु खेद का विषय है कि अब तक किसी हिंदी-प्रेमी विद्वान् ने ऐसी जाँच कर चंद के समय का यथार्थ निर्णय करने का यत्न ही नहीं किया। मैं किसी समय इस विषय पर एक लेख प्रकाशित कर यह बतलाने की चेष्टा करूँगा कि जैसे अनंद विक्रम संवत् की सृष्टि कल्पित है, वैसे ही चंद को हिंदी का आदि कवि मानना भी भ्रम ही है।

---

(१०) सेनापति पुष्यमित्र और अयोध्या का शिलालेख

[लेखक—रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर]

नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ५, अंक १ में 'शुंग-वंश का एक शिलालेख' नामक लेख बाबू जगन्नाथदासजी रत्नाकर बी० ए० ने मूल लेख की प्रतिलिपि सहित प्रकाशित किया है (पृ० ९९–१०४)। उसके प्रकाशित होने के पूर्व हाथ से लिखी हुई उसकी एक प्रतिलिपि बाबू जगन्नाथदासजी ने बाबू श्यामसुंदरदासजी के द्वारा मेरे पास भेजी, जिसको पढ़ते ही मैंने बाबू श्यामसुंदरदास जी को सूचित किया कि यह लेख बड़े महत्त्व का है; परंतु जब तक उसकी छाप या फोटो न देखी जाय, तब तक विश्वस्त रूप से उसके संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। बाबू जगन्नाथदासजी ने उसे प्रकाशित कर इतिहास-प्रेमियों का बड़ा उपकार किया है। उन्होंने उसकी प्रतिलिपि, नागरी अक्षरांतर, हिंदी अनुवाद एवं अक्षरों के विषय में विस्तृत विवेचन किया है, और उसके संबंध में विशेष रूप से किसी अवसर पर फिर लिखने की इच्छा प्रकट की है। अपना लेख प्रकाशित हो जाने के पश्चात् उन्होंने कृपाकर उक्त लेख पर से उठाई हुई छाप भी मेरे पास भिजवाई, जिसके लिये मैं उनका बहुत ही अनुगृहीत हूँ। इस छोटे से लेख के मिलने से शुंग वंश के इतिहास-संबंधी कितनी एक संशययुक्त बातों का निर्णय होने के अतिरिक्त शुंगों के इतिहास पर कुछ नया प्रकाश भी पड़ा। अतएव उस पर मैं इस लेख के द्वारा अपने कुछ विचार प्रकट करता हूँ, जैसा कि मैंने उक्त लेख के अंत की संपादकीय टिप्पणी में उल्लेख किया था।

वह लेख केवल दो पंक्ति का है। पहली पंक्ति का आदि और अंत का कुछ कुछ अंश नष्ट हो गया सा जान पड़ता है, और दूसरी पंक्ति का तो केवल दाहिनी ओर का आधा अंश ही रक्षित है। तिस पर भी वह पुरातत्त्ववेत्ताओं के लिये कम महत्व का नहीं है। पहली पंक्ति का जो अंश विद्यमान है, उसका आशय यह है कि 'दो बार अश्वमेध यज्ञ करनेवाले सेनापति पुष्यमित्र के छठे (वंशधर) कोशलाधिपति कौशिकी-पुत्र [धन]·········ने······' । कौशिकीपुत्र के बाद कोशल (अयोध्या) के उस समय के राजा का नाम होना चाहिए, जिसका पहला अक्षर 'ध' स्पष्ट है, और दूसरा 'न' सा प्रतीत होता है। यदि वह 'न' ही हो, तो अयोध्या के जिस राजा का यह लेख है, उसका नाम धनभूति अथवा 'धन' पद से प्रारंभ होनेवाला (धनदेव धनमित्र आदि) होना चाहिए। दूसरी पंक्ति के बचे हुए अक्षरों में पहले दो अक्षर छाप में 'धम' से प्रतीत होते हैं, जो संभवत: 'धर्म' हों। उनका संबंध उनके पूर्व के अक्षरों के साथ था, या पिछलों से है, यह अनिश्चित है। उनके बाद के दो अक्षर 'राज्ञा' से प्रतीत होते हैं, परंतु वे संदेहरहित नहीं हैं। इन चार अक्षरों के पीछे का अंश साफ़ है; और उसका आशय यह है कि पिता फल्गुदेव का (फल्गुदेव के निमित्त) केतन (स्थान) बनवाया। फल्गुदेव संभवतः उक्त कोशलाधिपति के पिता का नाम हो। दूसरी पंक्ति इतिहास के लिये उतनी उपयोगी नहीं है, जितनी पहली।

अब उक्त लेख के संबंध में कुछ विचारणीय बातों का विवेचन नीचे किया जाता है—

कौशिकीपुत्र धन······को पुष्यमित्र का छठा (वंशधर) और अयोध्या का अधिपति कहा है। कौशिकीपुत्र शुंग राज्य का स्वामी नहीं, किंतु केवल अयोध्या का राजा था; अतएव उसको पुष्यमित्र का कुटुंबी मानना युक्तियुक्त है।

उक्त लेख से शुंगवंशियों का राज्य पश्चिम में अयोध्या तक

होना तो निर्विवाद है, परंतु भरहूत (मध्य भारत) के प्रसिद्ध स्तूप के एक तोरण पर शुंगों के राजत्व काल का एक लेख * खुदा हुआ है, जो राजा गागीपुत (गार्गीपुत्र) विसदेव (विश्वदेव) के पौत्र और गोतिपुत (गोतिपुत्र) आगरजु के पुत्र वाछिपुत (वात्सीपुत्र) धनभूति का है। उक्त लेख से शुंगों का राज्य पाटलीपुत्र (पटना) से पश्चिम में मध्य भारत तक होना निश्चित है।

उक्त लेख में सब से अधिक महत्त्व की बात सेनापति पुष्यमित्र के दो अश्वमेध करने का उल्लेख है। महाभाष्य के कर्ता पतंजलि ने, जो पुष्यमित्र के समय विद्यमान थे, उक्त राजा के यज्ञ † का उल्लेख प्रसंगवशात् किया है; परंतु उससे यह नहीं पाया जाता कि उसने कौन सा यज्ञ किया था। महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में शुंग वंश का विशेष इतिहास मिलता है। उससे पाया जाता है कि जिस समय सेनापति पुष्यमित्र ने राजसूय (अश्वमेध) यज्ञ किया, उस समय उसका पुत्र अग्निमित्र विदिशा (भिलसा, ग्वालियर राज्य) में शासन करता था। उक्त नाटक में अग्निमित्र के नाम भेजे हुए पुष्यमित्र के एक पत्र का भी उल्लेख है, जिसका आशय यह है—

"यज्ञभूमि से सेनापति पुष्यमित्र स्नेहालिंगन के पश्चात् विदिशास्थित आयुष्मान् कुमार अग्निमित्र को सूचित करता है कि मैंने राजसूय यज्ञ की दीक्षा ग्रहण कर सैंकड़ों राजपुत्रों-सहित वसुमित्र की संरक्षा में एक वर्ष में लौट आने के नियम के साथ यज्ञ का निरर्गल (बंधन से मुक्त) अश्व छोड़ दिया। सिंधु ‡ नदी के दक्षिणी तट पर विचरते

* इंडियन् ऐंटिक्वेरी, जि. १४, पृ. १३८।

† इह पुष्यमित्रं याजयामः (महाभाष्य)।

‡ सिंधु अर्थात् काली सिंध जो मालवे से निकलकर राजपूताने में होकर बहती है। सिंधु को सिंध में बहनेवाली सिंधु नदी न मानकर राजपूताने की सिंधु (काली सिंध) मानने का कारण यह है कि पतंजलि ने अपने जीवन-समय की भूत काल की घटनाओं के उदाहरण देते हुए 'यवनों ने माध्यमिका को घेरा' (अरुणद्यवनो माध्यमिकां) 'यवनों ने

हुए उस अश्व को यवनों* (यूनानियों) के अश्वसैन्य ने पकड़ लिया, जिससे दोनों सेनाओं में घोर संग्राम हुआ। फिर वीर वसुमित्र ने अश्व को बलात् छीननेवाले शत्रुओं को परास्त कर मेरा उत्तम अश्व छुड़ा लिया। जैसे पौत्र अंशुमत् के द्वारा वापस लाए हुए अश्व से सगर ने यज्ञ किया, वैसे मैं भी अपने पौत्र द्वारा वापस लाए हुए अश्व से यज्ञ करूँगा। अतएव तुम्हें यज्ञदर्शन के लिये वधूजन-सहित शीघ्र आना चाहिए †।"

कालिदास के इस कथन से पुष्यमित्र का एक अश्वमेध करना पाया गया; परंतु अब तक उसकी पुष्टि किसी अन्य पुस्तक या शिलालेख से नहीं हुई थी। अयोध्यावाले शिलालेख से निश्चित हो गया कि पुष्यमित्र ने एक ही नहीं वरन् दो अश्वमेध किए थे और कालिदास का कथन सर्वथा ठीक है।

'कौशिकीपुत्र' अयोध्या के राजा का नाम नहीं, किंतु उसकी माता के वंश के नाम या गोत्र का सूचक है। प्राचीनकाल में राजाओं, ब्राह्मणों आदि में एक से अधिक विवाह करने की रीति प्रचलित थी;

साकेत (अयोध्या) को घेरा' (अरुणद्यवनः साकेतं) ये दो उदाहरण दिए हैं। माध्यमिका को इस समय 'नगरी' या 'ताँबावती नगरी' कहते हैं और वह चित्तौड़ के प्रसिद्ध किले से ६–७ मील उत्तर में है। माध्यमिका से आगे बढ़ते हुए यवनों (यूनानियों) की मुठभेड़ वसुमित्र के साथ होना प्रतीत होता है। महाकवि भवभूति ने अपने 'मालती माधव' नाटक में पद्मावती (पेहोआ, ग्वालियर राज्य में) के निकट बहनेवाली पारा और सिंधु नदियों का उल्लेख किया है। वही सिंधु राजपूताने में बहने पर काली सिंध कहलाती है।

* कालिदास का प्रयोग किया हुआ 'यवन' शब्द काबुल और पंजाब पर राज्य करनेवाले बैक्ट्रिया (बलख) के ग्रीकों (यूनानियों) का सूचक है। पुष्यमित्र के समय में माध्यमिका आदि को घेरनेवाला यूनानी राजा मिनेंडर था, जिसके चाँदी के दो सिक्के मुझे नगरी (माध्यमिका) से मिले हैं। पुष्यमित्र के अश्वमेध के घोड़े को पकड़नेवाला यवनों का अश्वसैन्य भी मिनेंडर का ही होना चाहिए।

† मालविकाग्निमित्र, अंक ५ (ई० स० १९२२ का बंबई का संस्करण, पृ. १०४–५)।

इसी से अमुक पुत्र कौन सी रानी या स्त्री से उत्पन्न हुआ, यह बतलाने के लिये उसके नाम के पूर्व उसकी माता के गोत्र वा कुल का परिचय दिया जाता था। भरहूत के उपर्युक्त शिलालेख में गार्गीपुत्र का नाम विश्वदेव, गोतिपुत्र का आगरजु और वात्सीपुत्र का नाम धनभूति मिलता है। इसी शैली से अयोध्यावाले शिलालेख के कौशिकीपुत्र का नाम धन...(धनभूति या धनदेव या धनमित्र आदि) होना चाहिए।

पुष्यमित्र मौर्य वंश के अंतिम राजा बृहद्रथ का सेनापति था। उसने अपने स्वामी को सेना का निरीक्षण कराते हुए मारकर उसका राज्य छीन लिया। उसने मौर्य साम्राज्य के स्वामी होने पर भी अपना विरुद 'सेनापति' ही रखा और उसका वंश शुंग वंश कहलाया। मौर्य राजा अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर वैदिक यज्ञों का होना बंद कर दिया था, परंतु पुष्यमित्र ने वेद-धर्मानुयायी होने के कारण ही अश्वमेध किए। तिब्बत के बौद्ध लेखक तारानाथ ने लिखा है—'पुष्यमित्र ने मध्य देश से लेकर जालंधर तक के बौद्ध मठ जला दिए और कई विद्वान् बौद्ध भिक्षुओं को मरवा डाला'। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि उसने बौद्ध धर्म को नष्ट करने की इच्छा से पाटलीपुत्र के कुक्कुटाराम(विहार) को नष्ट कर दिया और साकल प्रदेश में (पंजाब में) रहनेवाले बौद्ध भिक्षुओं को मरवा डाला था। पुष्यमित्र ने धर्म-द्वेष के कारण बौद्धों के साथ ऐसे अत्याचार किए हों, यह संभव है।

'मालविकाग्निमित्र' में विदिशा के शासक अग्निमित्र के विषय में लिखा है—"विदर्भ (बरार) के राजा यज्ञसेन के चचेरे भाई माधवसेन से उसने कहलाया कि अपनी बहिन मालविका का विवाह मेरे साथ कर दो। उस समय विदर्भ के राज्य के लिये माधवसेन और यज्ञसेन के बीच विरोध चल रहा था। माधवसेन अपने मंत्री सुमति और मालविका के साथ गुप्त रूप से विदिशा जा रहा था। उस समय में यज्ञसेन के सीमास्थित सेनापति ने माधवसेन को पकड़कर कैद कर लिया।

परंतु सुमति और मालविका बच निकले। इस घटना का समाचार पाते ही अग्निमित्र ने माधवसेन को सकुटुंब छोड़ देने के लिये यज्ञसेन से कहलाया, जिसके उत्तर में उसने कहा कि मेरा साला, जो मौर्यों का मंत्री था, आपके यहाँ कैद है। यदि आप उसको छोड़ दें, तो मैं माधवसेन को बंधनमुक्त कर दूँ। इस उत्तर से क्रुद्ध होकर अग्निमित्र ने यज्ञसेन पर सेना भेज उसे जीत लिया और माधवसेन को छुड़ा लिया। फिर विदर्भ के दो विभाग कर एक यज्ञसेन को और दूसरा माधवसेन को दे वरदा नदी उनके बीच की सीमा नियत कर दी।" इसी प्रकार उक्त नाटक में वसुमित्र को अग्निमित्र का पुत्र, उस (वसुमित्र) की माता का नाम धारिणी और अग्निमित्र की दूसरी स्त्री का नाम इरावती लिखा है। संस्कृत ग्रंथकारों में से किसी ने शुंग वंश का इतना विस्तृत विवेचन नहीं किया। पुराणों में केवल पुष्यमित्र का बृहद्रथ को मारकर उसका राज्य लेना लिखा है*। बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में सेना का निरीक्षण कराते हुए पुष्यमित्र का बृहद्रथ को मारना बतलाया है†। कालिदास के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कोई उसका वि० सं० की पहली शताब्दी में, कोई पाँचवीं में, तो कोई छठी में और कोई उससे भी पीछे होना मानते हैं। पुष्यमित्र वि० सं० के पूर्व की

---

* इत्येते दश मौर्यास्तु ये भोक्ष्यन्ति वसुन्धराम्।
सप्तत्रिंशच्छतं पूर्णं तेभ्यः शुङ्गान् गमिष्यति ॥ २६ ॥
पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य स बृहद्रथान्।
कारयिष्यन्ति वै राज्यं षट्त्रिंशत्तु समा नृपः ॥ २७ ॥

(मत्स्यपुराण, अध्याय २७२)।

एवं मौर्या दशभूपतयो भविष्यन्ति अब्दशतं सप्तत्रिंशदुत्तरं ते पृथिवीं शुंगा भोक्ष्यन्ति ॥८॥ ततः पुष्यमित्रः सेनापतिः स्वामिनं हत्वा राज्यं करिष्यति ॥ ९ ॥

(विष्णुपुराण, अंश ४, अध्याय २३)।

† प्रतिज्ञा दुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनं।

(हर्षचरित, उच्छ्वास ६)।

दूसरी शताब्दी के अंत के लगभग हुआ। यदि कालिदास वि० सं० की पाँचवीं शताब्दी में अर्थात् पुष्यमित्र से अनुमान ६०० वर्ष पीछे हुआ हो, तो पुष्यमित्र, अग्निमित्र और वसुमित्र के संबंध की घटनाओं का इतनी बारीकी के साथ उसका वर्णन करना सर्वथा असंभव है। कालिदास के ऊपर उद्धृत किए हुए वर्णन को देखते हुए तो यही अनुमान होता है कि वह पुष्यमित्र से बहुत पीछे न हुआ हो और संभवतः उसका वि० सं० की पहली शताब्दी में होना मानना अनुचित न होगा।

संस्कृत न जाननेवाले पुस्तक-लेखक संस्कृत ग्रंथों की नकल करने में बहुधा संयुक्त व्यञ्जन के दूसरे वर्ण 'य' को 'प' सा लिख देते हैं, जिससे वास्तविक नाम के जानने में कभी कभी भ्रम उत्पन्न हो जाता है। इसी से कोई कोई विद्वान् पुष्पमित्र* लिखते हैं। प्राचीन ब्राह्मी लिपि में 'य' और 'प' में बड़ा अंतर † होने से उसमें ऐसा भ्रम हो ही नहीं सकता। अयोध्यावाले उक्त लेख में पुष्यमित्र नाम है, जिसको कोई पुष्पमित्र नहीं पढ़ सकता। अतएव उक्त लेख से यह भी निश्चय हो गया कि उक्त राजा का नाम पुष्पमित्र मानना भ्रम ही है।

---

* इंडियन् एंटिक्वेरी, जि. ५३, पृ. ६२।

† भारतीय प्राचीन लिपिमाला, लिपिपत्र १-१०।

(११) शुंग वंश का नया शिलालेख

[लेखक—बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, बी० ए० अयोध्या]

इस पत्रिका के गतांक में हमने शुंग वंश का एक शिलालेख प्रकाशित किया था और अपनी समझ के अनुसार उसका नागरी अक्षरांतर तथा हिंदी अनुवाद भी दिया था। जिस मंदिर में यह शिलालेख है, उसके विवरण तथा शुंग वंश की ऐतिहासिक तथा पौराणिक टिप्पणियों के विषय में हमने फिर कभी लिखने का विचार प्रकट किया था। अवकाशाभाव से अभी हम अपना उक्त संकल्प तो पूरा नहीं कर सकते, पर उस लेख के विषय में कुछ आवश्यक बातें लिखते हैं।

उक्त शिलालेख के प्रकाशित होने पर लखनऊ म्यूजियम के क्यूरेटर मुंशी प्रयागदयाल साहब के भेजे हुए पंडित सरजूप्रसाद जी मिश्र फोटोग्राफर तथा पटना म्यूजियम के क्यूरेटर राय मनोरंजन घोष साहब एम० ए० उसकी थपुवा छाप तथा मंदिर इत्यादि के फोटो प्राप्त करने के निमित्त हमारे पास आए। हमने यथाशक्ति उनकी सहायता करके छाप तथा फोटो लेने का प्रबंध कर दिया। उनके छाप लेने में जो एक नई बात प्रकट हुई, वह पाठकों के अवलोकनार्थ प्रकाशित की जाती है।

हमारी छाप में लेख की प्रथम पंक्ति के अंत में 'ध' के पश्चात् जो एक अस्पष्ट चिह्न सा आया था और हमने जिसका 'म' होना अनुमित किया था, वह उन महाशयों की छापों में स्पष्ट रूप से 'न' उठा है; क्योंकि पहली छाप लेते समय उस अक्षर में रंग इत्यादि भरा हुआ था, जिस पर विशेष ध्यान नहीं गया था। पर अब की बार छाप लेने के पूर्व उसको खुरचकर स्पष्ट कर लिया गया। उक्त अक्षर के

स्पष्ट रूप से 'न' पढ़े जाने पर, प्रथम पंक्ति के अंत का शब्द असंदिग्ध रूप से 'धन' पढ़ा जाता है। इस 'धन' शब्द के पश्चात् के कुछ अक्षर, जैसा कि पहले लेख में लिखा गया है, चौखट के नीचे आ गए हैं। पत्थर के अग्र भाग के देखने से चौखट के नीचे दबे हुए पत्थर का भाग इतना प्रतीत होता है, जितने पर दो अथवा तीन अक्षर भली भाँति समा सकते हैं। अतः यदि 'धन' शब्द के पश्चात् तीन अक्षरों का चौखट के नीचे दब जाना मान लिया जाय, तो प्रथम पंक्ति के अंत में 'धनमित्रेण' अथवा 'धनदेवेन' तृतीयांत पद का होना संभावित है; और इन दोनों पदों में से किसी के वहाँ मान लेने से वाक्य भी पूरा हो जाता है। हमारी समझ में 'धनमित्रेण' का मानना अधिक संगत है; क्योंकि पुष्यमित्र के वंशजों के नामों में विशेषतः मित्र शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है, यद्यपि देव शब्द का होना भी असंभव नहीं है।

यहाँ इस बात का लिख देना आवश्यक है कि पहले लेख में जो हमने लिखा था कि पहली पंक्ति के ऊपर एक या दो पंक्तियों का होना भी संभावित है, वह संदेह इस समय की जाँच से निर्मूल ठहरता है। अब जहाँ तक ज्ञात होता है, पहली पंक्ति के ऊपर और कुछ नहीं है, और न वाक्य के पूर्ण होने के निमित्त और किसी शब्द की आकांक्षा ही रह जाती है।

अब उक्त लेख का नागरी अक्षरांतर इस प्रकार होता है—

प्रथम पंक्ति—कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य षष्ठेन कौशिकीपुत्रेण धन (मित्रेण अथवा देवेन आदि)

द्वितीय पंक्ति—धर्मराज्ञा पितुः फल्गुदेवस्य केतनं कारितं

इस पाठ का यह अर्थ होता है—

"दो अश्वमेध यज्ञों के कर्ता सेनापति पुष्यमित्र के छठे (पुरुष अथवा भाई) कोसलाधिप कौशिकीपुत्र धन (मित्र अथवा देव आदि) धर्म्मराज ने (अपने) पिता का केतन (स्मारकगृह) बनवाया।"

'धर्मराज्ञा' पद के प्रयोग के विषय में इतनी बात यहाँ कह देना आवश्यक है कि पाणिनि जी के अनुसार इस समस्त पद का रूप 'धर्मराजेन' होना चाहिए। पर पुराने लेखों में ऐसे नियमों के विरुद्ध प्रयोग बहुधा मिलते हैं। 'धर्मराज्ञा' शब्द 'धर्मराज्ञि' भी पढ़ा जा सकता है। यदि यह 'धर्मराज्ञि' ही हो तो इस शिलालेख का अर्थ यह होगा—कोसलाधिप......धनमित्र (धनदेव) ने धर्मराज्ञी (धर्मपत्नी) के पिता फल्गुदेव का केतन बनवाया। यह विषय भी विचारणीय है।

इतिहासवेत्ताओं तथा प्राचीन विषयों के अनुसंधानकर्ताओं का ध्यान इस ओर आकर्षित करने के अभिप्राय से एक बात और भी नीचे लिखी जाती है।

जिस मंदिर में यह शिलालेख है, वह उदासीन सम्प्रदाय के एक बड़े प्रतिष्ठित स्थान में है, जो अयोध्या के अंतर्गत रानोपाली नामक ग्राम में स्थित होने के कारण रानोपाली ऋष्याश्रम कहलाता है। इसके अध्यक्ष इस समय श्रीमान् महंत बाबा केशवराम जी महानुभाव हैं। आप बड़े ही सज्जन, महात्मा तथा पंडित, एवं अनेक सद्गुणों से विभूषित हैं। इस स्थान का विशेष ऐतिहासिक वर्णन फिर कभी लिखा जायगा। 'रानोपाली' शब्द के संबंध में यहाँ संक्षेप से कुछ लिखा जाता है।

यह शब्द संस्कृत पद 'राज्ञः पल्ली' का अपभ्रंश रूप ज्ञात होता है। 'राज्ञः पल्ली' का प्राकृत रूप 'रन्नोपाल्ली' और इसका अपभ्रंश 'रानोपाली' होता है। पल्ली शब्द का अर्थ ग्राम, कुटी, गृह, स्थान तथा छोटा-मोटा नगर इत्यादि है। नगर के अर्थ में इसका प्रयोग 'त्रिचनापल्ली' इत्यादि नामों में पाया जाता है; और ग्राम के अर्थ में कथासरित्सागर के इस श्लोक में है—

"इतस्त्वं गच्छमत्पल्लीं जाने सा तत्र ते गता।
अहं तत्रैव चैष्यामि दास्याम्यसिमिमञ्च ते॥"

हेमचंद्र ने इसका अर्थ ग्रामक तथा कुटी लिखा है, भट्ट ने गृह और स्वामि ने स्थान। इन अर्थों पर विचार करने से 'राज्ञःपल्ली' का अर्थ राजा का नगर अथवा स्थान ठहरता है। अयोध्या के आसपास और कई ग्रामों के नामों में भी यही पल्ली शब्द दिखाई देता है; जैसे, पाली, पलियोगोपा, शाहगंज पलिया इत्यादि में। ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र अथवा उसके किसी वंशज, ने इस स्थान पर अपना राजगृह अथवा नगर स्थापित किया था, जो 'राज्ञःपल्ली' अर्थात् राजा का स्थान कहलाने लगा; और इस नाम ने शनैः शनैः रानोपाली* रूप धारण कर लिया। यदि हमारा यह अनुमान ठीक हो, तो इस शिलालेख का रानोपाली में होना परम संगत है। अब रह गई यह बात कि यह लेख इस समय जिस स्थान पर लगा हुआ है, वह ठीक उसी स्थान पर आरंभ ही से चला आता है, अथवा किसी समीपस्थ स्थान से उठवाकर वर्तमान मंदिर के द्वार पर लगाने के काम में लाया गया है, इस पर फिर विचार किया जायगा।

---

* 'पाली भाषा' में जो 'पाली' शब्द है, वह भी इसी 'पल्ली' शब्द का रूपांतर प्रतीत होता है। यदि यह अनुमान ठीक हो, तो 'पाली भाषा' का अर्थ 'नगर-प्रयुक्त भाषा' होगा। भाषा के पूर्व 'पल्ली' शब्द के प्रयोग से एक ओर तो निर्दिष्ट भाषा संस्कृत से पृथक् हो जाती है, और दूसरी ओर ग्रामीण इत्यादि से। अतः 'पाली भाषा' का अर्थ सर्वसाधारण की भाषा, घरेलू भाषा, प्रचलित भाषा इत्यादि होता है। यह विषय इस लेख से विशेष संबंध नहीं रखता, अतः इस पर फिर कभी स्वतंत्र विचार किया जायगा।

(१२) महाभाष्य में शूद्र

[लेखक—पंडित माँगीलाल काव्यतीर्थ, अजमेर।]

पाणिनि ने द्वन्द्व समास के दो प्रकरण किए हैं। इनमें एक समाहार द्वन्द्व और दूसरा इतरेतरयोग द्वन्द्व है। जिन शब्दों का समाहार में ही द्वन्द्व होता है, उनके नाम गिनाकर नियम कर दिया है कि उन शब्दों से इतरेतरयोग में द्वन्द्व न हो। इस नियम के उदाहरण हैं—पाणिपादम्, कठकौथुमम्, अर्काश्वमेधम्, पदकक्रमकम्, धानाशष्कुलि, गङ्गाशोणम्, यूकालिक्षम्, मार्जारमूषकम् इत्यादि। इतरेतरयोग में द्वन्द्व के उदाहरण हैं—दर्शपौर्णमासौ, पितापुत्रौ, ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः, सौर्यकेतवते, गङ्गायमुने इत्यादि। समाहार द्वन्द्व में नपुंसक लिङ्ग और एकवचन होता है। इतरेतरयोग के द्वन्द्व में लिङ्ग और वचन परवत् (अन्तिम पद के अनुसार) और विवक्षा के अधीन हैं। इसी सिलसिले में पाणिनि ने अबहिष्कृत शूद्र-वाचक शब्दों को व्याकरण-प्रक्रिया से सिद्ध करते हुए नियम बतलाया है कि अबहिष्कृत शूद्रों का समाहार द्वन्द्व ही हो, इतरेतरयोग द्वन्द्व न हो। इस नियम का सूत्र है—

शूद्राणामनिरवसितानाम्।२।४।१०।

अनिरवसित (अबहिष्कृत) शूद्रों के वाचक शब्दों का समाहार द्वन्द्व हो, यह सूत्रार्थ है। जो बहिष्कृत शूद्र हैं, उनका इतरेतरयोग द्वन्द्व हो, यह प्रत्युदाहरण का सूत्रार्थ है। पाणिनि के सूत्र में 'अनिरवसित' निर्देश मात्र है, जिस पर कात्यायन का कोई वार्त्तिक नहीं है। चूँकि इन दोनों आचार्यों के समय अबहिष्कृत शूद्र और बहिष्कृत

शूद्र के दोनों भेदों के लोग पूरे जानकार थे, सुतरां उन्होंने इस विषय पर अधिक विश्लेषण नहीं किया; परन्तु पतंजलि ने शिष्य-परम्परा पर अनुग्रह कर महाभाष्य में उक्त सूत्र की व्याख्या की है। व्याख्या का ढंग और प्रश्नोत्तर से समझाने की शैली बहुत ही मनोहारिणी है। अतः हम पतंजलि के ही शब्दों में उक्त व्याख्या प्रश्नोत्तर, समाधान इत्यादि वाक्य निर्देश-पूर्वक यहाँ लिखते हैं। भाष्यकार ने सूत्र का विशेषण-वाक्य लेकर व्याख्या यों शुरू की है—

अनिरवसितानामित्युच्यते ।

सूत्र में 'अनिरवसितानाम्' कहा गया है, परन्तु इस सापेक्ष वचन को सुनने पर स्वभावतः विद्यार्थी प्रश्न करेंगे—

कुतोऽनिरवसितानाम् ।

कहाँ से, किस स्थान से अबहिष्कृत ? आचार्य पतंजलि उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं—

आर्यावर्त्तादनिरवसितानाम् ।

आर्यावर्त्त से अबहिष्कृत। आर्यावर्त्त देश से जो बहिष्कृत न हों, उन शूद्रवाचक शब्दों का समाहार द्वन्द्व में एकवचन और नपुंसक लिङ्ग होता है, ऐसा समझो। परन्तु भूगोल का सीमा-विभाग बदलता रहता है, तथा आचार्यों ने उसे कुछ फेर बदल से भी माना है। संभव है कि व्याकरण के आचार्य कुछ विभिन्न रीति से आर्यावर्त देश की सीमा मानते हों, इसी भावना से प्रेरित होकर विद्यार्थी प्रश्न करता है—

कः पुनरार्यावर्त्तः ।

अच्छा, बतलाओ आर्यावर्त्त कौन सा देश है ? भगवान् पतंजलि उत्तर देते हैं—

प्रागादर्शात् प्रत्यक् कालकवनात्
दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम् ।

आदर्श[1] से पूर्व, कालकवन[2] से पश्चिम, हिमालय से दक्षिण और पारियात्र[3] से उत्तर आर्यावर्त्त है। इस आर्यावर्त्त की चतुःसीमा में रहनेवाले शूद्र अबहिष्कृत हैं, यदि सूत्र का इतना संकीर्ण अर्थ है, तो छात्र इष्टापत्ति कर सकते हैं–

यद्येवं किष्किन्धगान्धिकम्, शकयवनम्, शौर्यक्रौञ्चमिति न सिध्यति।

यदि आर्यावर्त्त, जैसा कि आपने बतलाया, उतना ही भू-प्रदेश है, तो किष्किन्ध[4]गांधिकम्[4], शक[4]यवनम्[4], और शौर्य[4]क्रौञ्चम्[4]

---

१. **आदर्श**—कैयट आदर्श को पर्वत मानता है। वराहमिहिर ने आदर्श का उत्तर की ओर होना बतलाया है। महाभाष्यकार आर्यावर्त की पश्चिमी सीमा पर उसका होना मानते हैं। यदि वास्तव में यह नाम पर्वत या पर्वतीय प्रदेश का सूचक हो, तो उत्तरी भारत के पश्चिम में उसका होना मानना पड़ता है। संभव है, यह नाम सुलेमान पर्वत श्रेणी से लेकर किरथर श्रेणी तक का प्रदेश हो।

२. **कालक वन**—यह आर्यावर्त का पूर्वी सीमांत पर्वत या देश होना चाहिए। वराहमिहिर ने कालक की नैऋर्त्य देशों में गणना की है। यह बात पतंजलि के कथन से नहीं मिलती।

३. **पारियात्र**—महेंद्र आदि सात कुल-पर्वतों में से एक का नाम। मनु ने आर्यावर्त्त की दक्षिणी सीमा विंध्य पर्वत तक बतलाई है। कुछ विद्वान् विंध्य के पश्चिमी भाग को ही पारियात्र मानते हैं, परंतु सप्त कुलपर्वतों की नामावली में विंध्य और पारियात्र का दो भिन्न पर्वत होना माना है। पारियात्र का अर्थ यात्रा का पार या अंत है। आर्यावर्त्त[°] निवासियों की दक्षिण की यात्रा विंध्य पर ही समाप्त होती थी। ऋषि अगस्त्य ने विन्ध्याचल से दक्षिण में जाकर आर्य सभ्यता की स्थापना की, तभी से विंध्य के दक्षिण में आर्यों की बस्तियाँ होने लगीं। कूर्मपुराण के अनुसार अपरांत (पश्चिमी समुद्र तट का देश) पारियात्र के सीमांतर्गत था। रामायण के अनुसार भी पारियात्र विन्ध्य से दक्षिण में होना चाहिए।

४. (क) **किष्किंध**—दक्षिण का प्रदेश और वहाँ के निवासी। रामायण की प्रसिद्ध किष्किंधा नगरी इसी देश में थी। संस्कृत के लेखक देश और वहाँ के निवासियों का एक ही नाम से परिचय देते हैं।

(ख) **गांधिक**—ये लोग कहाँ के निवासी थे, यह अनिश्चित है। परंतु महाभाष्य में किष्किंध के साथ गांधिक का द्वंद्व समास किया है, जिससे अनुमान

इन तीन उदाहरणों में नपुंसक लिङ्ग और एकवचन का प्रयोग, जैसा कि देखते हैं, सिद्ध न होगा। क्योंकि उक्त उदाहरणों के छहों प्रदेश या छहों जातियाँ आर्यावर्त्त की चतुःसीमा से बाहर हैं। आपके लक्षण के अनुसार ये बहिष्कृत शूद्र हो जायँगे। परंतु इनका प्रयोग बतलाया

होता है कि गांधिक किष्किन्धवासियों के पार्श्ववर्ती देशवासी हों। यहाँ गांधिक का अभिप्राय सुगंधित पदार्थ बेचनेवालों से हो, ऐसा नहीं पाया जाता।

(ग) शक—यह प्रारंभ में आर्य क्षत्रिय जाति थी—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ ४३ ॥
पौण्ड्काश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥ ४४ ॥

मनुस्मृति, अध्याय १०।

पीछे से यह जाति आर्यावर्त्त के बाहर के उत्तरी देशों में जा बसी और उसके आचार विचार में अंतर पड़ गया। पुराणों में पाया जाता है कि जब शकों को सूर्यवंशी राजा सगर ने मारा, तब उन्होंने वसिष्ठ की शरण ली। फिर सगर ने उनको आधा सिर मुँड़वाने का आदेश देकर वेदबाह्य कर दिया। ऐसा भी लिखा मिलता है कि गांधार पर राज्य करनेवाले चंद्रवंशी द्रुह्यु के वंशधर उत्तर में तथा अन्य बाहरी देशों में फैल गए और म्लेच्छ देशों में उन्होंने अपने राज्य स्थापित किए थे। ये सब प्रमाण शकों का प्रारंभ में क्षत्रिय होना प्रकट करते हैं। तुर्कस्थान, बलख आदि भारत के उत्तरी प्रदेशों में आर्य सभ्यता फैली हुई थी। पीछे से वहाँ बौद्ध धर्म का भी प्रचार हुआ। तुर्किस्तान आदि से अनेक संस्कृत और प्राकृत ग्रंथ रेत के नीचे दबे हुए नगरों से अब तक मिलते हैं। बैक्ट्रिया (बलख) और पार्थिया के यूनानी (ग्रीक) राज्यों को इन्हीं लोगों ने नष्ट कर वहाँ अपना अधिकार जमाया था। फिर ये लोग विक्रम संवत् की पहली शताब्दी के आस पास हिंदूकुश पर्वत को पारकर दक्षिण की तरफ बढ़े; और पश्चिम में हिरात से लेकर सिंधु नदी तक का प्रदेश इन्होंने अपने अधीन किया। फिर क्रमशः हिंदुस्तान के बड़े हिस्से पर इन्होंने अपना अधिकार जमा लिया। इनकी एक शाखा क्षत्रप नाम से भी प्रसिद्ध हुई, जिसके दो विभाग उत्तरी और पश्चिमी क्षत्रप नाम से प्रसिद्ध हैं। उत्तरी क्षत्रपों का अधिकार पंजाब, मथुरा आदि पर रहा, और पश्चिमी क्षत्रपों का महाराष्ट्र, गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मालवा तथा राजपूताने पर रहा था। पश्चिमी क्षत्रपों में रुद्रदामा बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसके अधीन आकर (मालवा का

गया है अबहिष्कृत शूद्र जातियों में। अन्यथा नपुंसक लिङ्ग और एक-वचन उपपन्न (सिद्ध) नहीं हो सकता। विद्यार्थियों की यह इष्टापत्ति ठीक थी, और प्रयोग भी शुद्ध थे; परंतु कृपालु मुनि इष्टापत्ति का परिहार करते हुए अबहिष्कृत शब्द को यों स्पष्ट करते हैं—

पूर्वी हिस्सा), अवंती (मालवा का पश्चिमी हिस्सा), अनूप (कच्छ), आनर्त (उत्तरी काठियावाड़), सुराष्ट्र (दक्षिणी काठियावाड़), श्वभ्र (साबरमती के तट का उत्तरी गुजरात), मरु (मारवाड़), सिंधु, सौवीर (सारा सिंधु), कुकुर, अपरांत (पश्चिमी समुद्र तट का कुछ प्रदेश) और निषाद आदि देश थे। रुद्रदामा को यहाँ की कई राजपुत्रियों ने स्वयंवर में मालाएँ पहिनाई थीं, और पुराणों में लिखित आन्ध्र (सातवाहन) वंश के एक राजा का विवाह इस वंश की राजकुमारी से होना शिलालेखों से पाया जाता है। इस प्रकार पीछे हिन्दुस्तान में आने पर भी ये लोग वैदिक और बौद्ध धर्म के अनुयायी रहे। शक उषवदात वेदधर्मावलंबी था और उसकी स्त्री दत्तमित्रा बौद्ध धर्म का आदर करती थी, ऐसा नासिक के पास की गुफाओं में उनके खुदे हुए शिलालेखों से पाया जाता है। महाभारत में शक देश का उल्लेख मिलता है। शकों का एक राज्य ईरान की सीमा पर विक्रम संवत् की दूसरी शताब्दी में विद्यमान था, जो सीस्तान (शक-स्थान) नाम से अब तक प्रसिद्ध है। शकों का चलाया हुआ शक संवत् अब तक प्रचलित है और इन शकों के राज्य की स्मृति दिलाता है।

(घ) **यवन**—पुराणों से पाया जाता है कि यवन भी शकों की नाईं आर्य क्षत्रिय जाति के थे। सूर्यवंशी राजा सगर से लड़ाई में परास्त होकर इस जाति ने भी वसिष्ठ की शरण ली थी। राजा सगर ने इनको सारा सिर मुँड़वाए रखने का आदेश देकर वेदबाह्य कर दिया। इस जाति ने भी शकों के समान म्लेच्छ देशों में अपने राज्य जमाए थे। पीछे से इस जाति ने पश्चिम में बढ़कर युरोप तक अपना अधिकार जमा लिया था। फिर यवन शब्द का प्रयोग बाहर की भिन्न भिन्न जातियों के लिये होने लगा। अशोक के पर्वतीय शिलालेखों में यूनानी (ग्रीक) राजाओं को योन (यवन) कहा है। विदिशा (भेलसा—ग्वालियर राज्य में) मिले हुए विष्णु के मंदिर के आगे खड़े किए हुए विक्रम संवत् के पूर्व की पहली शताब्दी के अंत के आस पास के शिलालेखों में तक्षशिला के यूनानी राजा अंतिअलकिदस (एंटिआल्किडिस) के समय योन (यवन) दूत हेलियदोर (हेलियोडोरस) का, जो दीय (डीयन) का पुत्र था और भागवत (वैष्णव) था, देवताओं के देवता वासुदेव के लिये गरुड़ध्वज रूपी उक्त स्तम्भ के खड़ा करने का उल्लेख है। यहाँ योन (यवन) शब्द का प्रयोग यूनानी का सूचक है। अपर

एवं तर्ह्यार्यनिवासादनिरवसितानाम् ।

यदि शब्दसाधन में ऐसी आपत्ति दिखाई देती है, तो 'आर्यावर्त्त से बाहर होकर भी जो शूद्र आर्यनिवास से बहिष्कृत न हों' ऐसा लक्षण मानना चाहिए। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार लक्षण-प्रणयन

लिखे हुए पश्चिमी क्षत्रप रुद्रदामा के गिरनार के शिलालेखों में, जो शक संवत् ७१ (विक्रमी संवत् २०७) से कुछ ही पिछे का है, गिरनार पर्वत के नीचे के सुदर्शन नामक तालाब से, जो मौर्य राजा चंद्रगुप्त के राज्य के समय उसके साले वैश्य पुष्यगुप्त ने बनवाया था, अशोक के समय यवनराज तुषास्प के द्वारा नहरें निकालने का उल्लेख है। यहाँ तुषास्प नाम ईरानी प्रतीत होता है, क्योंकि अब तक ईरान से यहाँ आए हुए पारसियों में जामास्प, कर्शास्प आदि नाम पाए जाते हैं। तुषास्प भी उसी शैली का नाम है। महाकवि कालिदास ने पारसियों (ईरानियों) को यवन कहा है। महाभारत में भी यवन देश का नाम मिलता है। ईरान के बादशाह ज़र्कसिस आदि ने कई बार यूनानियों (ग्रीकों) को परास्त किया था, जिसका बदला लेने के विचार से मकदूनिया के बादशाह सिकंदर (अलेक्ज़ेंडर) ने विक्रम संवत् से २७७ वर्ष पूर्व स्वदेश से प्रस्थान किया, और सीरिया देश में ईरान के बादशाह दारा को परास्त कर वहाँ से अफ्रिका के मिस्र देश को विजय किया। तत्पश्चात् फिर एशिया में प्रवेश कर सीरिया देश के प्रसिद्ध अर्बेला नगर से ६० मील पर दारा से लड़ाई की। इस लड़ाई में भी दारा की हार हुई और वहाँ से भागता हुआ दारा मार्ग में ही मर गया। सिकंदर ईरान तथा उसके आस पास के कई देश बैक्ट्रिया (बलख) आदि विजय करता हुआ विक्रम संवत् से पूर्व २६९ में भारत विजय करने को आया। हिन्दूकुश के रास्ते आगे बढ़ता हुआ वह सिन्धु नदी पारकर तक्षशिला नगरी में पहुँचा। वहाँ से आगे बढ़ व्यास नदी तक का प्रदेश अपने अधिकार में किया। फिर लौटकर सिन्धु नदी के द्वारा सिंध में गया। वहाँ से बलूचिस्तान के मार्ग से बाबीलन पहुँचा, और वहीं विक्रम संवत् से पूर्व २६६ में मर गया। इधर चन्द्रगुप्त मौर्य ने पंजाब आदि से यूनानियों को निकालकर वहाँ अपना राज्य स्थिर किया।

सिकंदर के मरने पर उसके सेनापतियों ने उसका महाराज्य आपस में बाँट लिया। सिकंदर का एशिया का राज्य सेल्युकस नामक सेनापति के हिस्से में आया। वह चन्द्रगुप्त से पंजाब वापस लेने को चढ़ा, पर वह उससे हारा। कई दूसरे इलाके चन्द्रगुप्त को देकर उसने सुलह करली और अपनी पुत्री का विवाह भी चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया। इस प्रकार सिकंदर का स्थापित किया हुआ यूनानी राज्य तो पंजाब से उठ गया, परन्तु उसका बैक्ट्रिया (बलख)

से युक्त प्रयोगों की सिद्धि में किसी प्रकार दूषण नहीं आ सकता। इससे विदित होता है कि वे छः जातियाँ यद्यपि आर्यावर्त्त से बाहर हैं, तो भी रहती आर्यनिवास में ही हैं। परन्तु यह कैसे विदित हो कि आर्य लोगों के निवास कौन कौन हैं। संभव है, छात्र ऐसा प्रश्न करें—

क: पुनरार्यनिवासः।

आर्यनिवास क्या है, जिससे हम समझ सकें कि इस निवास में

का राज्य स्थिर रहा। वहाँ के यूनानी राजा यूथिडिमस के पुत्र डिमिट्रियस ने विक्रम संवत् पूर्व १३३ के आस पास फिर हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की और अफगानिस्तान (जो उस समय हिन्दुस्तान का ही हिस्सा था) तथा पंजाब आदि पर फिर यूनानियों का राज्य स्थिर हो गया। इन पिछले २७ यूनानी राजाओं के सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के अब तक मिल चुके हैं। इन पर एक तरफ प्राचीन यूनानी लिपि का लेख और दूसरी तरफ बहुधा खरोष्टी लिपि में संस्कृत मिश्रित प्राकृत लेख उसी आशय के हैं। पंजाब के इन यूनानी राजाओं में से मिनेंडर बौद्ध हो गया था। पतंजलि का 'यवन' शब्द इन्हीं यूनानियों का सूचक है। पतंजलि के महाभाष्य से पाया जाता है कि उनके (पतंजलि के) जीवन काल में यूनानियों में मध्यामिका (वर्तमान 'नगरी' प्रसिद्ध चित्तौड़ के किले से ७ मील उत्तर में) तथा साकेत (अयोध्या) को घेर लिया था। शुङ्ग वंश के संस्थापक सेनापति पुष्यमित्र के यज्ञ (अश्वमेध) में महाभाष्यकार पतंजलि विद्यमान थे। महाकवि कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक से पाया जाता है कि पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया। उस समय उसका पुत्र अग्निमित्र विदिशा (भेलसा) का शासक था। उसके यज्ञीय अश्व को सिन्धु नदी के (काली सिन्ध, राजपूताने में) दक्षिणी तट पर यवनों (यूनानियों) ने पकड़ लिया था। परन्तु अन्त में यवनों की हार हुई, और अश्व उनसे छुड़ा लिया गया। पुष्यमित्र के अश्व को पकड़नेवाली यवन सेना उक्त मिनेंडर की सेना होनी चाहिए, क्योंकि वही दक्षिण में राजपूताने तक विजय करता हुआ बढ़ आया था।

इन यवनों (पिछले यूनानियों) ने वैदिक या बौद्ध धर्म को अङ्गीकार किया था। मिनेंडर बौद्ध था। ऊपर लिखा हुआ हेलियोडोरस भागवत (वैष्णव) था। पीछे से ये यवन हिन्दुस्तानी शैली के नाम भी रखने लग गए थे। धर्मरक्षित नामक यवन (यूनानी) राजा अशोक की तरफ से बौद्ध धर्म का प्रचारक बनकर अपरान्त (कोंकण) में गया था। नासिक के पास की गुफा में यवन धम्मदेव

बसनेवाले शूद्र बहिष्कृत नहीं हैं ? शिष्यों को भगवान् पतंजलि आर्यनिवास के संबंध में यों उत्तर देते हैं—

ग्रामो घोषो नगरं संवाह इति ।

आर्यों का निवास ग्राम है, घोष[5] है, नगर है, और संवाह[6] है। जो शूद्र इन आर्यनिवासों में रहते हैं, वे सब अबहिष्कृत शूद्र हैं। आर्यावर्त्त से बाहर होकर शकयवनादि लोगों ने छोटे बड़े गाँव, खेड़े, शहर, जिले बिलकुल नए आबाद कर लिए थे, और इन आर्य बस्तियों में ही आर्य लोग रहते थे। विद्यार्थी इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष दिखाते हुए आपत्ति करते हैं—

एवमपि य एते महांतःसंस्त्यायास्त्वेष्वभ्यंतराश्चण्डालामृतपाश्च वसंति तत्र चण्डालमृतपा इति न सिध्यति ।

यदि अबहिष्कृत शूद्रों का यह लक्षण मान लिया जाय कि जो शूद्र आर्य लोगों की इन चार प्रकार की बस्तियों में रहते हैं, वे अब-

---

(धर्मदेव) और उसके पुत्र इन्द्राग्निदत्त के नाम मिलते हैं। अन्त में ये सब यूनानी भारतीयों में मिल गए। उस समय यहाँ के धर्म सम्बन्धी विचार आज कल के से संकुचित न थे।

(ङ) **शौर्य**—यह जाति कहाँ निवास करती थी, यह अनिश्चित है। सम्भव है कि भारतवर्ष के उत्तर की जातियों में से एक हो। पतंजलि ने (८।२।१०६) भाष्य में शौर्य नामक नगर का उल्लेख किया है; और वहाँ व्याकरण के एक प्रसिद्ध आचार्य रहते थे, जिनका परिचय 'शौर्यभगवतोक्तमनिष्ठिज्ञो वाडवः' शौर्य भगवान से दिया है। महाभाष्य (६।४।१४८) में 'काण्डे शौर्ये नाम हिमवतः शृङ्गे' शौर्य को हिमालय का शिखर भी माना है।

(च) **क्रौञ्च**—इस जाति का निवास-स्थान भी अनिश्चित है, परन्तु यह भी शौर्य के समान उत्तरी जाति होनी चाहिए। कालिदास ने क्रौञ्च नामक पर्वत के आर पार एक छिद्र माना है, जिसमें होकर मेघ अलका गया था।

५. **घोष**—उस बस्ती को कहते हैं, जहाँ गौएँ, भैंसे इत्यादि पशु विशेष रूप से रखे जाते हों।

६. **संवाह**—उन स्थानों का नाम है, जहाँ वणिक् अर्थात् वाणिज्य करनेवालों का विशेष समुदाय रहता हो।

हिष्कृत शूद्र समझे जायँ, तो इन आर्य बस्तियों में बड़े बड़े संस्त्याय (स्थान, कोठियाँ) हैं और उनमें चण्डाल[७] तथा मृतप[८] भी रहते हैं। आपके लक्षण के अनुसार ये दोनों जातियाँ भी अबहिष्कृत शूद्रों में मानी जानी चाहिएँ। परंतु इन जातिवाचक शब्दों का इतरेतरयोग द्वन्द्व समास में 'चण्डालमृतपाः' ऐसा उदाहरण मिलता है, जो बहिष्कृत शूद्रों का साधक है। लक्षण और उदाहरण में परस्पर यह असंगति कैसी ? चण्डाल और मृतप दोनों बहिष्कृत हैं, इसी अभिप्राय से इतरेतर योग के द्वंद्व समास में एकवचन और नपुंसक लिंग में नहीं लिखे जाते। सुतरां उदाहरण तो सही है, परंतु लक्षण का अंश किसी प्रकार के विशेष समाधान की अपेक्षा रखता है। विद्यार्थियों की इस आशंका पर पतंजलि ने आगे यों उत्तर दिया है—

एवं तर्हि याज्ञात्कर्मणोऽनिरवसितानाम् ।

इस प्रकार के समाधान से जो बहिष्कृत हैं, यदि वे भी अबहिष्कृतों की गणना में आ सकते हैं, तो इस शंका का समाधान यों समझो कि जो शूद्र यज्ञकर्म[९] से बहिष्कृत न हों, वे अबहिष्कृत समझे जायँ। धर्मशास्त्र में शूद्रों को यज्ञ कर्म का अधिकार प्रतिपादित है। प्रत्येक शूद्र

---

७. **चण्डाल**—प्राचीन आर्यों में चण्डाल प्रतिलोमज शूद्रों में माने जाते थे। ये लोग बस्ती से बाहर रहते थे; और बस्ती में आने के समय एक लकड़ी को ज़मीन पर ठोंकते हुए चलते थे जिसमें उनसे किसी का स्पर्श न हो।

८. **मृतप**—ये भी प्रतिलोमज हैं। मृतप की उत्पत्ति चण्डाल से मानी गई है। ये लोग मरघटों में चौकीदारी का काम करते और मृतकों के वस्त्र आदि लिया करते थे। लावारिस मुर्दों को निर्हार कर (ले जाकर) ये लोग जलाते थे। राजाज्ञा से प्राणान्त-दण्ड पाए हुए पुरुषों को मृतप शूली पर चढ़ाते थे। कैयट इनको डोम्ब (डोम) कहता है।

९. **यज्ञकर्म**—यज्ञकर्म से यहाँ पञ्च महायज्ञों से अभिप्राय है। कैयट ने लिखा है—'शूद्राणां पञ्चयज्ञानुष्ठानेऽधिकारोऽस्तीति भावः।' ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ—ये पाँच महायज्ञ माने जाते हैं। इन पाँचों यज्ञों के प्रसिद्ध नाम अनुक्रम से ये हैं—अध्यापन, तर्पण, होम, बलि और अतिथिपूजन।

का जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह नित्य प्रति पंच महायज्ञ करे। पंच महायज्ञ करनेवाले शूद्र अबहिष्कृत हैं। इस समाधान को सुनकर विद्यार्थी इष्टापत्ति (प्रयोग की असिद्धि) दिखाते हुए कहेंगे—

एवमपि तक्षायस्कारं रजकतन्तुवायमिति न सिध्यति।

यदि अबहिष्कृत शूद्रों का ऊपर बतलाया हुआ लक्षण है, तो 'तक्षायस्कारम, रजकतन्तुवायम्' ये प्रयोग सिद्ध न होंगे। क्योंकि तक्षा[10], अयस्कार[11], रजक[12] और तन्तुवाय[13] इन चार शूद्रों को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है। यदि यज्ञाधिकार न मिलना ही बहिष्कृत का लक्षण होता, तो इन चारों शब्दों के समाहार के द्वंद्व में एकवचन और नपुंसकलिंग, जो कि इन प्रयोगों में बतलाया गया है, नहीं होने पाता। परंतु जब ये प्रयोग उक्त समास में सिद्ध हो रहे हैं, तब यह भी मानना होगा कि ये चारों जातियाँ अबहिष्कृत शद्र हैं। आप कहते हैं कि जिन शद्रों को यज्ञाधिकार प्राप्त हैं, वे अबहिष्कृत हैं। हम ऐसे चार शूद्रों का प्रयोग देखते हैं, जिन्हें यज्ञाधिकार अप्राप्त है, परंतु जो अबहिष्कृत हैं। इस शंका का समाधान मुनि पतंजलि यों करते हैं—

एवं तर्हि पात्रादनिरवसितानाम्।

यदि ऊपर के समाधानों में इष्टापत्ति, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोष रहते हैं, और वे सब समाधान एकदेशीय (अपूर्ण) हैं, तो ऐसा लक्षण समझो कि जो शूद्र पात्र से बहिष्कृत नहीं हैं, वे अबहिष्कृत माने जायँ। पात्र से बाहर न करने या करने से आचार्य का जो अभिप्राय था,

---

१०. **तक्षा**—यह लकड़ी काटनेवाली या लकड़ी का काम करनेवाली जाति प्रतीत होती है।

११. **अयस्कार**—लोहे का काम करनेवाली जाति (लोहार)।

१२. **रजक**—कपड़ा धोनेवाली और रँगनेवाली जाति।

१३. **तन्तुवाय**—कपड़ा बुननेवाली जाति (जुलाहे)। तक्ष, अयस्कार, रजक और तन्तुवाय ये चारों जातियाँ अबहिष्कृत शूद्रों के साथ ही गिनी जाती थीं, परन्तु इन्हें पञ्च महायज्ञ करने का अधिकार न था।

उसे विद्यार्थी समझ गए, क्योंकि आगे फिर उन्होंने कोई प्रश्न नहीं किया। भगवान् पतंजलि सर्वसाधारण विद्यार्थियों पर अनुग्रह करते हुए पात्र से अबहिष्कृत और पात्र से बहिष्कृत इन शब्दों का धर्मशास्त्र में निर्दिष्ट अर्थ यों स्पष्ट करते हैं—

यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुध्यति तेऽनिरवसिताः।
यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेणाऽपि न शुध्यति ते निरवसिता इति।

जिन शूद्रों के भोजन करने पर पात्र (जूठा बरतन) संस्कार[१४] से, जैसा कि धर्मशास्त्र में बतलाया है, शुद्ध हो सकता है, वे अनिरवसित (अबहिष्कृत) शूद्र हैं। जिन शूद्रों के भोजन करने पर पात्र (जूठा बरतन) संस्कार से भी शुद्ध नहीं हो सकता, वे निरवसित (बहिष्कृत) शूद्र हैं।

महाभाष्य के अनुसार इस सूत्र का भावार्थ यह प्रतीत होता है कि शूद्र दो प्रकार के हैं—अबहिष्कृत और बहिष्कृत। बहिष्कृतों में केवल दो जातियाँ हैं—चण्डाल और मृतप। बाकी सब अबहिष्कृत हैं। अबहिष्कृतों में तक्ष, अयस्कार, रजक और तंतुवाय इन चार शूद्रों को पंचयज्ञ का अधिकार नहीं है। शक और यवन का एक ही उदाहरण महाभाष्य में दिया है। उससे विदित होता है कि महाभाष्यकार पतंजलि जाति से और गुणकर्म से, दोनों प्रकार से वर्ण-व्यवस्था मानते थे। क्योंकि शक और यवन जाति से क्षत्रिय थे, पर द्विजोचित कर्म का

---

१४. **संस्कार**—ताम्रायः कांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च।
शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः॥

ताँबा, लोहा, काँसा, पीतल, राँगा और सीसा इन धातुओं के बरतन अपवित्र होने पर भस्म, क्षार के पानी और जल से माँज धोकर शुद्ध किए जायँ। सुवर्ण के बरतन को केवल पानी से, चाँदी, लोहे और काँसे के बरतन को राख से, ताँबे और पीतल के बरतनों को खटाई के पानी से शुद्ध करना चाहिए। कैयट का अभिप्राय इसी संस्कार से है; आयुर्वेद में लिखित धातु-शुद्धि से नहीं।

लोप होने पर शूद्रत्व को पहुँच गए थे। पीछे इनके जो वंशज हुए, वे जाति से भी शूद्र माने गए। सब प्रकार के अबहिष्कृत शूद्र द्विजातियों के बरतनों में भोजन करते रहे हैं। उनके उच्छिष्ट बरतन साधारण रीति से माँजने धोने से ही शुद्ध माने गए हैं।

---

(१३) आमेर के महाराज सवाई जयसिंह के ग्रंथ और वेधशालाएँ

[२]

[लेखक—पंडित केदारनाथ शर्मा, राजपंडित, जयपुर]

(नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग ३, पृ. ४११ से आगे]

सवाई जयसिंह जी महाराज के ग्रंथों में से 'जीच महम्मद-शाही' नामक फारसी के ग्रहगणित-विषयक ग्रन्थ की भूमिका का भाषा अनुवाद नागरीप्रचारिणी पत्रिका में पहले दिया जा चुका है। अब यहाँ पर उस ग्रंथ के सब विषयों की सूची दी जाती है *।

[१] सूर्य की सारणियाँ—

(१) सूर्य के क्रान्तिवृत्तीय मध्यम भोग तथा सूर्य के उच्च के मध्यम भोग, हिजरी सन् ११४१ से ११७१ तक।

(२) सूर्य और उसके उच्च की मध्यम गतियाँ निम्न लिखित अरबी वर्षों की—

३०, ६०, ९०, १२०, १५०, १८०, २१०, २४०, २७०, ३००, ६००, ९००, १२००।

(३) सूर्य की और उसके उच्च की मास गति, प्रति अरबी महीने की।

(४) सूर्य की और उसके उच्च की दैनिक गति, १ से ३१ दिन तक की।

(५) सूर्य की और उसके उच्च की प्रति घण्टे की गति। यह गति मिनट और सेकेण्ड की गति जानने के लिये ६१ घंटों तक की

---

* डबल्यू हंटर साहब के लेख के आधार पर।

दी गई है, जिससे एक ही कोष्ठक से घंटे, मिनट, सेकेण्ड तक की गति लाई जा सकती है।

(६) सूर्य और उसके उच्च की हिजरी वर्ष १ से ३१ तक की प्रति वर्ष की गति।

(७) काल समीकरण जिसके द्वारा यह जाना जाता है कि मध्यम और स्पष्ट समय का वर्ष भर में किस क्रम से अन्तर बढ़ता घटता है।

(८) सूर्य का मंदफल संस्कार। इस संस्कार का उपकरण सूर्य का मध्यम केन्द्र है; और उसमें काल समीकरण संस्कार दिया गया है। यदि मध्यम केन्द्र उत्तर की राशियों में अर्थात् मेष से कन्या तक में हो, तो मंदफल संस्कार ऋण किया जाता है; और यदि दक्षिण की राशियों में तुला से मीन तक में मध्यम केन्द्र हो, तो मंदफल संस्कार धन किया जाता है।

(९) सूर्य का मन्दकर्ण और उसकी प्रति घंटे की गति और सूर्य का स्पष्ट बिम्ब मान अर्थात् पृथ्वी से सूर्य तक का अंतर। इसका उपकरण संस्कृत मध्यम केंद्र है।

[२] चंद्रमा की सारणियाँ—

(१–६) इन छः सारणियों में चंद्रमा के मध्यम भोग तथा चंद्रमा की महीने, दिन, घंटे, मिनट आदि की गतियों, उच्च के भोग और गतियों तथा राहु के भोग और गतियों का विषय है। ये सब सारणियाँ भी सूर्य की सारणियों के अनुसार हिजरी सन् के अनुसार बनाई गई हैं।

(७) चंद्रमा का मंदफल संस्कार। इस संस्कार का उपकरण चंद्र मध्यम केंद्र है, जिसमें काल समीकरण संस्कार दिया गया है। और यह मंदफल संस्कार चंद्रमा में भी सूर्य की तरह मंद केंद्र के उत्तर-दक्षिण की राशियों में ऋण या धन किया जाता है।

(८) चंद्रमा में द्वितीय फल संस्कार। यह संस्कार मंदफल

संस्कृत चंद्रमा में और प्रथम संस्कार से संस्कृत उच्च में तथा राहु में भी दिया जाता है ।

इस संस्कार के लाने में दो उपकरण आवश्यक होते हैं—

(क) मंदफल संस्कृत चंद्रमा के भोग में से सूर्य का मंदफल संस्कृत भोग घटाना चाहिए । यह उपकरण राश्यादिक होता है और चंद्रमा की द्वितीय संस्कार सारणी के ऊपर और नीचे की तरफ़ राशिक्रम से लिखा गया है ।

(ख) प्रथम संस्कार संस्कृत चंद्रमा में से सूर्य के उच्च का भोग घटाना चाहिए । जो राश्यादि शेष रहे, उसकी राशि और अंश सारणी की दाहिनी और बाईं तरफ लिखे गए हैं ।

यह संस्कार ऊपर लिखे (क) (ख) संज्ञक दोनों उपकरणों के संपात से लाया जाता है ।

यदि दूसरा उपकरण अर्थात् (ख) क्रान्ति वृत्त के प्रथम अर्ध अर्थात् मेषादि छः राशियों में हो और प्रथम उपकरण अर्थात् (क) क्रांति वृत्त के प्रथम और चतुर्थ चरण में हो, अर्थात् मेष से मिथुन तक वा धनु से मीन तक की राशियों में हो, तो यह द्वितीय संस्कार चंद्रमा में धन किया जाता है; और यदि प्रथम उपकरण अर्थात् (क) क्रांति वृत्त के द्वितीय वा तृतीय चरण में हो, अर्थात् कर्क से कन्या तक वा तुला से धनु तक हो, तो यह द्वितीय संस्कार चंद्रमा में ऋण किया जाता है ।

किंतु यदि दूसरा उपकरण अर्थात् (ख) क्रांति वृत्त के उत्तरार्ध में हो और पहला उपकरण, अर्थात् (क) क्रांति वृत्त के प्रथम वा चतुर्थ चरण में हो, तो यह द्वितीय संस्कार चंद्रमा में ऋण किया जाता है; और यदि पहला उपकरण अर्थात् (क) क्रांति वृत्त के द्वितीय वा तृतीय चरण में हो, तो यह द्वितीय संस्कार चंद्रमा में धन किया जाता है ।

(९) चंद्रमा के तृतीय संस्कार लाने में भी दो उपकरण आवश्यक होते हैं। वे ये हैं—

(क) प्रथम और द्वितीय संस्कारों से संस्कृत चंद्रमा में से सूर्य का स्पष्ट राश्यादिक भोग घटाना चाहिए। शेष जो राश्यादिक रहे, उसके राशि और अंश तृतीय संस्कार सारणी के ऊपर नीचे की तरफ दिए गए हैं।

(ख) चंद्रमा के मध्यम केंद्र में भी द्वितीय संस्कार देना चाहिए। संस्कृत चंद्र-मंद-केंद्र के राशि और अंश तृतीय संस्कार सारणी की दाहिनी और बाईं तरफ दिए गए हैं।

यह तृतीय संस्कार भी इन दोनों (क) और (ख) के संपात से लाया जाता है और सारणी में दिए हुए धन-ऋण के चिह्न के अनुसार प्रथम और द्वितीय संस्कारों से संस्कृत चंद्रमा में दिया जाता है। और इस तृतीय संस्कार के देने पर चंद्रमा अपनी कक्षा में स्पष्ट हो जाता है।

(१०) राहु का संस्कार—

इस संस्कार के लाने के लिये चंद्रमा के तीन संस्कारों से संस्कृत भोग में से सूर्य भोग घटा देना चाहिए। जो शेष रहे, वह उपकरण होगा।

इस उपकरण से राहु-संस्कार की सारणी से फल लाना चाहिए। और वह संस्कार प्रत्येक अंक के साथ दिए हुए धन-ऋण चिह्न के अनुसार राहु में जोड़ना या घटाना चाहिए।

और इसी संस्कार के साथ राहु के द्वितीय संस्कार के अंक भी 'राहु संस्कार' के नाम से दिए हुए हैं। यह संस्कार भी राहु के भोग में सारणी में दिए धन-ऋण चिह्न के अनुसार जोड़ना या घटाना चाहिए।

(११) चंद्रमा का चतुर्थ संस्कार, अथवा चंद्रमा के भोग का (जो चंद्रमा की निज कक्षा का है) सूर्य की कक्षा पर (अर्थात

क्रांति वृत्त पर, जिस पर सूर्यादि सब ग्रहों के भोग लाए जाते हैं) परिणत करने का संस्कार ।

चंद्रमा के तीन संस्कारों से संस्कृत किए हुए भोग में से राहु का संस्कृत किया हुआ भोग घटा देना चाहिए । जो शेष रहे, वह चंद्रमा का शर लाने का उपकरण होगा । और यही उपकरण चंद्रमा का चतुर्थ संस्कार लाने में भी उपयोगी होगा ।

यह उपकरण यदि प्रथम अथवा तृतीय पद में हो (अर्थात् मेष से मिथुन तक वा तुला से धनु तक हो) तो चंद्रमा की निज कक्षा के भोग में से (तीन संस्कार किए हुए चंद्रमा में से) यह चतुर्थ संस्कार घटा देना चाहिए । और उपकरण यदि द्वितीय वा चतुर्थ पद में हो, अर्थात् कर्क से कन्या राशि तक वा धनु से मीन राशि तक हो, तो यह संस्कार चंद्रभोग में जोड़ देना चाहिए । यह चतुर्थ संस्कार कर देने पर चंद्रमा का भोग क्रांतिवृत्तीय (अर्थात् जिस वृत्त पर सूर्य आदि ग्रहों का गणित लाया जाता है, उस वृत्त पर का) होगा ।

(१२) चंद्रमा के शर लाने की सारणी में दो कालम हैं । उनमें क्रम से चंद्रमा का शर और चंद्र-शर का संस्कार है । ये दोनों ही पदार्थ ऊपर साधन किए हुए शर लाने के उपकरण के राशि, अंशों द्वारा शर-सारणी से लाए जाते हैं ।

राहु के संस्कार को और चंद्र-शर के दूसरे कालमवाले अंक को आपस में गुण देना चाहिए; और गुणन-फल चंद्रमा के शर में जोड़ देना चाहिए । यह संस्कार कर देने पर चंद्रमा का शर स्पष्ट होगा ।

यदि चंद्र-शर लाने का उपकरण मेष से कन्या तक की राशियों में हो, तो यह शर उत्तर दिशा का होगा; और यदि तुला से मीन तक की राशियों में हो, तो यह शर दक्षिण दिशा का होगा ।

[३] शनि की सारणियाँ—

(१–६) ये छः सारणियाँ शनि के मध्यम भोग, शनि के उच्च

और पात के मध्यम भोगों की हैं; और इन सारणियों में सूर्य और चंद्र सारणी के तुल्य ही उपकरण हिजरी सन् के वर्ष, मास आदि दिए हुए हैं।

(७) शनि का प्रथम संस्कार—

इसका उपकरण शनि का मध्यम केंद्र है। यदि यह केंद्र मेष से कन्या तक की छः राशियों में हो, तो यह संस्कार मध्यम योग में से ऋण किया अर्थात् घटाया जाता है। और यदि तुलादि छः राशियों में हो, तो यह संस्कार जोड़ा जाता है।

(८) शनि के पात का संस्कार—

इसका उपकरण 'शर का उपकरण' नाम से कहा गया है। उपकरण लाने का प्रकार यह है कि शनि के प्रथम संस्कार से संस्कृत किए हुए भोग में से पात का भोग घटा देना चाहिए। यदि यह उपकरण पहले और चौथे पद में हो (अर्थात् मेष से मिथुन तक वा धनु से मीन तक की राशियों में हो) तो यह संस्कार धन किया अर्थात् जोड़ा जाता है। यदि दूसरे और तीसरे पद में (अर्थात् कर्क से धनु तक की राशियों में) हो, तो यह संस्कार ऋण किया अर्थात् घटाया जाता है।

(९) शनि का द्वितीय संस्कार—

यह संस्कार शनि के निज कक्षावृत्तीय भोग को सूर्य के कक्षावृत्त में अर्थात् क्रांति वृत्त पर परिष्कृत करने के लिये किया जाता है।

इसका उपकरण संस्कृत किया हुआ शर का उपकरण ही है। अथवा यों कहना चाहिए कि शनि के प्रथम संस्कृत भोग का और संस्कृत राहु के भोग का जो अंतर है, वही इस सारणी का उपकरण होता है।

यह संस्कार प्रथम संस्कार संस्कृत से ग्रह के निज कक्षावृत्तीय भोग में जोड़ा और घटाया जाता है। धन ऋण करने का नियम वही है

जो चंद्रमा की सारणियों में कक्षावृत्त से क्रांति वृत्त पर परिणत करने में लिखा जा चुका है ।

(१०) शनि का शर लाने की सारणी—

इसका उपकरण भी वैसे ही लाना चाहिए, जैसे चंद्रमा के शर लाने का उपकरण बताया गया है ।

(११) शनि का मंदकर्ण लाने की सारणी ।

मंदकर्ण उस दूरी का नाम है जो पृथ्वी से ग्रह तक है ।

इस सारणी का उपकरण शनि का मध्यम मंद केंद्र है, जिसमें द्वितीय फल संस्कार भी किया गया हो ।

[४] बृहस्पति की सारणियाँ—

(१–४) ये सारणियाँ शनि की सारणियों के तुल्य ही हैं । किंतु इनमें शनि-पात के संस्कार की सारणी नहीं है । इस कारण बृहस्पति की सारणियाँ संख्या में १० ही हैं ।

(५—७) ये मङ्गल, शुक्र और बुध की सारणियाँ हैं और इन सब की संख्या और प्रकार बृहस्पति की सारणियों के समान है ।

यही 'जीच महम्मद शाही' की विषय-सूची है । यह ग्रंथ फारसी भाषा में होने के कारण प्रचार में नहीं आया । इस समय इस ग्रन्थ की केवल दो प्रतियाँ उपलब्ध हैं । एक तो अलवर के राजकीय पुस्तकालय में और दूसरी ब्रिटिश म्यूजियम (लंडन) के पुस्तकालय में । जयपुर की वेधशाला की मरम्मत कराने के समय अलवर की पुस्तक ए. एफ्. गैरट् साहब ने मँगवाई थी; किंतु उसके गणित के अंक फारसी अंकों में बिंदी जैसे लिखे होने के कारण उसका कुछ उपयोग नहीं हुआ । डब्लू्यू हंटर साहब ने जो भूमिका, विषय-सूची आदि एशियाटिक् रिसर्चेज् के पंचम भाग में दी है, उसी के आधार पर गैरट् साहब ने अपनी यंत्र-वर्णन की पुस्तक में सब बातें लिखी हैं ।

'जीच महम्मद शाही' की भूमिका से उक्त ग्रंथ की उपादेयता अवश्य

ही प्रतीत होती है; क्योंकि उस समय ग्रहगणित की पाश्चात्य देश (इंग्लैंड) में भी उन्नति होने का प्रारम्भिक काल ही था। वहाँ की सारणियों के गणित से चंद्रमा का गणित ठीक नहीं होता। उसमें चंद्र ग्रहण में पाँच मिनट तक का अंतर पड़ता था, यह इस भूमिका से जाना जाता है। महाराज सवाई जयसिंह ने स्वयं यन्त्र-शालाएँ बनवाकर इस सूक्ष्म अंतर को भी निकालने की कोशिश की और उस में सफलता भी हुई, यह उनके लिये कम गौरव की बात नहीं है।

———

(१४) समालोचना

भाषा विज्ञान—लेखक बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए०, प्रकाशक बाबू रामचंद्र वर्मा, साहित्य-रत्न-माला कार्यालय, बनारस सिटी। पृ० सं०३८०+२०। मूल्य ३)

सब को विदित है कि एक नहीं डेढ़ पीढ़ी से बाबू श्यामसुंदरदास हिंदी की अनवरत सेवा कर रहे हैं, जिससे इन दोनों में घनिष्ठ संबंध हो गया है। बाबू श्यामसुंदर दास ने अपनी आराध्य देवी हिंदी को केवल काशी विश्वविद्यालय ही में नहीं वरन् पुराने से पुराने कलकत्ता विश्व-विद्यालय और नवीन से नवीन नागपुर विद्यापीठ में उच्च से उच्च आसन पर बैठा दिया अर्थात् एम० ए० की परीक्षा में प्रवेश करा दिया है और उसे सर्वांग विभूषित करने के लिये अनेक चमकदार रत्न प्रकट किये हैं, जिनमें से सब से नवीन "भाषा विज्ञान" है। इसमें एक ऐसे विषय का परिशीलन किया गया है जिसकी देशी भाषाओं में न्यूनता थी और जिसको अँग्रेज़ी में फाइलालोजी कहते हैं। इसकी परिभाषा उक्त बाबू साहब ने ग्रंथ के आदि में यों दी है—"भाषा विज्ञान उस शास्त्र को कहते हैं जिसमें 'भाषा' मात्र के भिन्न भिन्न अंगों और स्वरूपों का विवेचन तथा निरूपण किया जाता है।" इसको अधिकतर स्पष्ट करने के लिये आप लिखते हैं–"मनुष्य किस प्रकार भाषण करता है, उसके भाषण का किस प्रकार विकास होता है, उसके भाषण और उसकी भाषा में कब, किस प्रकार और कैसे कैसे परिवर्तन होते हैं, किसी भाषा में दूसरी भाषाओं के शब्द आदि किन किन नियमों के अधीन होकर मिलते हैं, कैसे तथा क्यों समय पाकर किसी भाषा का रूप ही और का और हो जाता है तथा एक भाषा किस प्रकार परिवर्तित होकर पूर्णतया स्वतंत्र एक दूसरी भाषा का रूप धारण कर लेती है, इन

विषयों तथा इनसे संबंध रखनेवाले और सब उपविषयों का भाषा विज्ञान में समावेश होता है। इसमें शब्दों की उत्पत्ति और रूप-परिवर्तन तथा वाक्यों की बनावट आदि पर भी विचार किया जाता है।" इससे सरलता से अनुमान हो सकता है कि इसके लिये किस कोटि के पांडित्य की आवश्यकता है। ग्रंथकर्त्ता ने जिस योग्यता के साथ विषय का प्रतिपादन किया है, वह उसके पाठकों ही को ज्ञात हो सकता है। ऐसे विषय में मतभेद की अधिक संभावना रहती है; परंतु समालोच्य पुस्तक में इस प्रकार से विवेचन किया गया है जिससे शंकाओं के लिये अधिक जगह नहीं छोड़ी गई। इसी कारण यह पुस्तक एम० ए० के समान परीक्षाओं के लिये बहुत उपयुक्त बन गई है।

भाषा विज्ञान से केवल भाषा संबंधी ज्ञान ही प्राप्त नहीं होता, वरन् जाति विज्ञान या मानव विज्ञान को भी सहायता पहुँचती है। भाषा विज्ञान के ही बल पर यहाँ के मूल निवासी गोंड भीलादि का आगमन आस्ट्रेलिया और अफ्रिका से निर्धारित किया गया है। यद्यपि यह प्रश्न विवादग्रस्त है, तथापि भाषाओं के साम्य से भारतवर्ष और उक्त महाद्वीपों की जातियों का संबंध निश्चित हो चुका है। यह भाषा ही की करतूत है जो बड़े बड़े समुद्र ओड़े पड़ जाने पर भी सहस्रों वर्ष के बिछुड़े भाइयों का मिलाप कर देती है। भाषा क्षेत्र विस्तीर्ण है, अभी तक पूरा जुता नहीं। अधिकतर अध्ययन से न जानें और कितनी बातों का पता लग जाय। बरमी भाषा अँग्रेजी भाषा से बिलकुल भिन्न है। परंतु मेरे एक बरमी मित्र ने मुझे प्रायः सौ शब्द ऐसे बताए जो दोनों भाषाओं में मिलान खाते हैं। परंतु ऐसी बातों से सिद्धान्त स्थिर करने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता रहती है। नहीं तो परिणाम वैसा ही हास्यजनक हो जाता है जैसा गोंड़ और अंग्रेज के साम्य में। गोंड़ सागोन को टेका कहते हैं, अंग्रेज टीक कहते हैं। गोंड स्त्री पुरुष कतार बाँधकर नाचते हैं, अंग्रेज

भी वैसा ही नाचते हैं, जंगली गोंड़ आबदस्त नहीं लेते, वैसा ही अंग्रेज करते हैं, इसलिये गोंड़ अंग्रेज़ हैं।

हम बाबू श्यामसुंदरदास को बधाई देते हैं कि उन्होंने नवीन प्रकार की रचना कर हिन्दी साहित्य के भांडार को भरने का श्रेय प्राप्त किया है। परंतु स्मरण रहे कि इस विषय की इतिश्री इसी पुस्तक से नहीं होती। भाषा-मर्मज्ञों को चाहिए कि इस परम उपयोगी विषय पर अनेक पुस्तकें लिखें जिनसे तुलना के लिये अधिकतर सामग्री प्राप्त हो सके। बाबू साहब ने पंथ दिखला दिया, अब हिन्दी-रसिकों पर निर्भर है कि वे उसकी पुष्टि और वृद्धि करें।

हीरालाल

(बी०ए०, राय बहादुर)

प्राचीन मुद्रा—श्रीयुक्त राखालदास वंद्योपाध्याय की बँगला पुस्तक का अनुवाद, अनुवादक बाबू रामचन्द्र वर्मा, प्रकाशक—नागरीप्रचारिणी सभा काशी। पृ० सख्या १० + १३ + २६९ + १८ मूल्य ३)

श्रीयुत बाबू राखालदास वंद्योपाध्याय का नाम पुरातत्व विभाग में बहुत ही ऊँचा है। पुरातत्व, लिपितत्व, मुद्रातत्व और इतिहास में उनको समान गति है और अपनी मातृभाषा से उन्हें अत्यन्त प्रेम है। ऊपर लिखे विषय इस प्रकार के हैं कि उनका मथन बहुधा अंग्रेजी या अन्य युरोपीय भाषाओं में किया जाता था, इसलिये इस देश के बहुतेरे लोग जो युरोपीय भाषाएँ नहीं जानते, इन विषयों के ज्ञान से वंचित रह जाते थे। केवल बँगला जाननेवालों के सुभीते के लिये उक्त बाबू साहब ने कोई दस वर्ष पूर्व 'बाङ्गलार इतिहास' नामक बंगाल का प्रामाणीक इतिहास लिखा था और उसके एक साल पश्चात् "प्राचीन मुद्रा" नामक दूसरा ग्रन्थ बँगला में प्रस्तुत किया। ये दोनों पुस्तकें ऐसी अच्छी बनीं कि इनका मान बंगाल ही में नहीं वरन भारतवर्ष और युरोप तक में हुआ। नवंबर सन् १९१५ ई० की हितकारिणी में 'बँगालार

इतिहास' की समालोचना करते हुए मैंने लिखा था:—"इस हिन्दी पत्र में बंगाली पुस्तक के विषय में चर्चा करने का इतना ही अभिप्राय है कि हिन्दी बोलनेवालों पर यह प्रकट हो जाय कि अन्य प्रांतों के विद्वान् अपनी मातृभाषा की सेवा करने के लिये किस प्रकार उत्साहित हैं और अनेक रत्न उपार्जित कर उसका भाण्डार भरने के लिये कितना उद्योग करते हैं। साथ ही इसके यह भी बताने की आवश्यकता है कि यदि हर एक प्रांत के एक दो विद्वान् बनर्जी बाबू की शैली की ऐतिहासिक पुस्तकें रच डालें, तो हिंदुस्थान के इतिहास का संग्रह कैसा परिपूर्ण और श्रेष्ठ हो जाय और भारतीय साहित्य के एक अपूर्ण अङ्ग की पूर्त्ति हो जाय।"

भारत का शृंखलाबद्ध इतिहास लिखा ही नहीं गया। इसलिये इधर उधर का जोड़ तोड़ लगाकर सामग्री इकट्ठी करने का प्रबंध किया गया है। इसके दो ही मुख्य साधन अवगत हैं अर्थात् शिला-ताम्रलेख और मुद्रा। मुद्राओं में अधिक लेख लिखने की गुंजाइश नहीं रहती तिस पर भी इन मितभाषी धातुओं के टुकड़ों ने कई खोए हुए वंश-वृत्तों को पुनः सामने खड़ा किया है और उनको भारतीय चरित्र में गौरव का स्थान प्राप्त करा दिया है। कभी कभी अकेला छोटा सा नाम बड़ा काम कर जाता है। सर आशुतोष मुकर्जी ने अपनी मृत्यु के प्रायः दो मास पूर्व पटने में बिहार और उड़ीसा की खोज-सभा के समक्ष व्याख्यान देते हुए कहा था कि हाथीगुंफा के बृहच्चटान लेख का कैसा ही विद्वान् पढ़नेवाला महाराजा खारवेल के गोरधगिरि की चढ़ाई का पता न लगा सकता, यदि उनके स्वर्गीय मित्र चार्लस रसल ने बराबर की पहाड़ियों पर केवल एक इक-शब्दी लेख का पता न लगाया होता। उस पहाड़ पर एक जगह "गोरधगिरि" नाम खुदा है जिससे स्पष्ट है कि खारवेल ने जिसका नाम सुनकर कोई ऐसा शहर न था जो काँप न उठता था, बराबर के पर्वत पर कोई दो हजार वर्ष पूर्व आक्रमण किया था।

मुद्राओं के लेखों से इससे कहीं अधिक मसाला मिल जाता है। राजाओं के नाम के सिवा उनके वंश, अधिकार, काल, धर्म्म, पोशाक, रुचि, शिल्प-कला, सभ्यता आदि का पता लगता है। उदाहरणार्थ समुद्रगुप्त के सिक्के लीजिए। ये कई प्रकार के मिलते हैं। एक में ध्वजा लिये राजा की मूर्ति बनी रहती है। वह दाहिने हाथ से अग्निकुंड में धूप डालता दिखलाया गया है। आस पास उपगीति छंद में "समर शत वितत विजयी जितारि पुरजितो दिवं जयति" अंकित है, जो उसके पराक्रम की सूचना देता है। दूसरी ओर लक्ष्मी की मूर्ति बनी है, जिससे स्पष्ट है कि उसकी आराध्य देवी लक्ष्मी थी। दूसरे सिक्के में राजा धनुष बाण लिये बतलाया गया है। तीसरे में राजा के साथ रानी कुमार देवी की मूर्त्ति बनी रहती है। चौथे में राजा परशु लिये चित्रित पाया जाता है। पाँचवें में बाघ पर तीर चलाता हुआ, छठें में बीणा बजाता हुआ, सातवें में अश्वमेध यज्ञ करता हुआ दिखलाया गया है। इन सिक्कों से वे सब बातें जो ऊपर गिनाई गई हैं, एकदम प्रकट हो जाती है।

'प्राचीन मुद्रा' में मुसलमानी राज्य के पूर्व के सिक्कों का ब्योरेवार वर्णन है जिससे मर्मज्ञ अनेक ऐतिहासिक बातों का पता लगा सकते हैं। इस पुस्तक में बारह परिच्छेद हैं जिनमें यूनानी, शक, कुषणवंशीय, गुप्तवंशी, सैसनीय, आंध्र, हूण, प्रतीहार, कलचुरि, चालुक्य, गाहड़वाल, चन्देल इत्यादि अनेक राजाओं के सिक्कों का विवेचना-पूर्ण वर्णन किया गया है और जो वर्तमान अनुवाद द्वारा हिन्दी जाननेवालों को उपलब्ध है। प्रामाणिक मुद्रातत्ववेत्ता बनर्जी बाबू द्वारा प्रणीत, हिन्दी के सिद्धहस्त लेखक बाबू रामचन्द्र वर्म्मा द्वारा अनुवादित, लिपि-तत्ववेत्ता राय बहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा द्वारा संपादित, इतिहासज्ञ मुंशी देवीप्रसाद की पुस्तक-माला में सम्मिलित और हिन्दी सभाओं की अग्रगण्य काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रका-

शित यह ग्रंथ केवल संग्रह के लिये ही नहीं है, वरन् मननपूर्वक अध्ययन के योग्य है। अंत में वर्णाक्षर क्रमानुसार विषयानुक्रमणिका जोड़ देने से उसकी उपयोगिता अधिक बढ़ गई है। यदि गत नौ वर्षों में मिले हुए प्राचीन सिक्कों का वर्णन परिशिष्ट में जोड़ दिया जाता तो बहुत ही अच्छा होता। यह सरलता से हो सकता था; क्योंकि भाग्य-वश इसके सम्पादक ऐसे मिले जो इस विषय के विशेष मर्मज्ञ हैं। कदाचित् इस सुन्दर ग्रन्थ को कहीं नज़र न लग जाय, इसलिये मुद्रक ने थोड़ा इस पर काजल लगा दिया है। पृ० २०८ में लिखा है— "गौप्त संवत् १९१ में खुदे हुए और ईरान में मिले हुए एक और शिला-लेख में भानुगुप्त नाम के मालव के एक और राजा का उल्लेख है।" पाठक इस ईरान को पढ़कर फारस देश का ध्यान कर अवश्य हैरान होंगे। यह ईरान सागर जिले का वीरान एरन है। यह अनुवादक का दोष नहीं है, मूल ही में भूल है। एरन का नाम कई बार आया है। परन्तु बँगला में ईराण व इराण ही छपा है। अनुवादक ने एक दो जगह शुद्ध करने की चेष्टा भी की है। यथा षष्ठ परिच्छेद में बँगला पुस्तक के पृष्ठ १०४ में लिखा है। 'मध्य प्रदेशे सागर जेलाय इराण नामक स्थाने एक प्रकार प्राचीन ताम्रमुद्रा आविष्कृत हइयाछे'। इसका अनुवाद पृ० १३१ में यों किया गया है—'मध्य प्रदेश के सागर जिले के ऐरन नामक स्थान में" इत्यादि। पृ० २३५ में इसने ऐरिन रूप धारण कर लिया है। इसी प्रकार भरहुत की फजीहत हुई है। इस छोटे से गाँव का नाम जनरल कनिंघम ने 'The Stupa of Bharhut' १०५ वर्ष पूर्व लिख कर जाहिर कर दिया था। हमारे देशी इतिहास-कारों ने गाँव का नाम भरहट, भारहट, भारहुत, भरहूत, बरहूत आदि नामों से अमर कर दिया है। 'हिन्दी प्राचीन मुद्रा' में बरहूत लिखा गया है (देखो पृ० ९ या प्रथम चित्रपट) कनिंघम ने अपनी पुरातत्त्व की रिपोर्ट में एक जगह एक गीत लिखा है जो इस प्रकार है—

पानी भरौं बकौली रहौं धनेरे गाँव ।
भरहुत क्यार गड़रिया तासों जुड़ों सनेव (सनेह)

इसमें भरहुत की जगह बरहूत या भरहूत कर देने से गीत बेतुका हो जायगा, परंतु इस पर कौन ध्यान देता है। अंग्रेजी के हिज्जे की खूबियों की प्रदर्शनी कर ही दी गई। छापे की छोटी मोटी कुछ और भूले हैं, परंतु थोड़ी हैं। वे पाठकों को भ्रम में नहीं डाल सकतीं।

हीरालाल
(रायबहादुर, बी० ए०)

हिंन्दी लोकोक्ति संग्रह कोष—लाला विश्वंभरनाथ खत्री द्वारा संकलित, सम्पादित और प्रकाशित, मूल्य सादी जिल्द ३॥), सुनहरी जिल्द ४), मिलने का पता—ग्रन्थकर्ता, ९९ हैरिसन रोड, कलकत्ता।

पंडित लक्ष्मण नारायण गर्दे ग्रंथ का परिचय देते हुए लिखते हैं—"लोकोक्ति भी भाषा का एक अलंकार है, पर केवल अलंकार नहीं है, अलंकार से बहुत कुछ अधिक है। यह लोकोक्ति है—लोक-विशेष के ज्ञान, अनुमान और अनुभव का 'गागर में सागर' है। कुछ लोकोक्तियाँ घटना विशेष से उत्पन्न होती हैं, कुछ इतिहास विशेष के संस्कार से निकलती हैं और कुछ नित्य के व्यवहार से। प्रत्येक लोकोक्ति किसी न किसी कवि की ही उक्ति है, परंतु उसमें ज्ञान अकेले उस कवि का नहीं, प्रत्युत् सारे समाज का होता है। समाज उस उक्ति में अपने ही अनुभव का दर्शन कर प्रसन्न होता है और उसे सादर ग्रहण करता है। इसी बात पर अंग्रेजी भाषा में एक लोकोक्ति है—"Wisdom of many and Wit of one" अर्थात् 'बहुतों की अनुभूति और एक की उक्ति।' इसमें संदेह नहीं कि लोकोक्तियाँ साहित्य का एक अंग हैं। इनसे अपने पूर्वजों के अनुभव, ज्ञान और चोज भरे वचनों का ही परिचय नहीं होता, वरन् इनके प्रयोग से भाषा में एक प्रकार का लालित्य और चमत्कार आ जाता है, जो उसे मनोमुग्धकारी बना देता

है। इसलिये लोकोक्तियों का संग्रह करना मानों पूर्व के ज्ञान और अनुभव के भांडार को संचित और रक्षित करना है। हिंदी में लोकोक्तियों की कमी नहीं है, पर अब तक इनका कोई अच्छा संग्रह नहीं हुआ था। जहाँ तक हमें ज्ञात है, फैलन साहब ने पहले पहल एक ऐसा संग्रह तैयार करके छपवाया था; पर उसका मूल रोमन अक्षरों में और व्याख्या आदि अंग्रेजी भाषा में थी, इससे जन साधारण में उसका प्रचार न हो सका। और भी कई महाशयों ने कई छोटे मोटे संग्रह यार किए और छपवाए हैं, पर कोई अच्छा संग्रह अभी तक नागरी अक्षरों और हिंदी भाषा में नहीं छपा है। लाला विश्वंभरनाथ ने इस कष्टसाध्य कार्य को पूर्ण करके हिंदी साहित्य का उपकार किया है और इसके लिये वे धन्यवाद और प्रशंसा के पात्र हैं। लाला विश्वंभरनाथ का ग्रंथ सुपर रायल अठपेजी आकार के ३५५ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। प्रत्येक पृष्ठ में लगभग २३ उक्तियाँ आई हैं। अतएव अनुमानतः इस ग्रंथ में लगभग ८, ९ हजार उक्तियों का संग्रह है। बीच बीच में देखने पर ऐसा ज्ञात होता है कि कुछ उक्तियाँ छूट गई हैं। ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कोष ग्रंथों के प्रारम्भिक संस्करणों में ऐसा प्रायः हो जाता है। इससे उसका महत्व कम नहीं हो सकता। स्थान स्थान पर लोकोक्तियों के संबंध में जो व्याख्याएँ दी गई हैं, वे भी कहीं कहीं विचारणीय है। किसी उक्ति के संबंध में जो कथा प्रसिद्ध है, उसे बिना जाँच किए मान लेना उचित नहीं है। उदाहरण के लिये 'अंटा गुड़गुड़' के संबंध में जेनरल आक्टरलोनी के संबंध में जो कुछ कहा गया है, वह ऐतिहासिक घटनाओं के कहाँ तक अनुकूल है, इसकी जाँच कर लेना आवश्यक था। ग्रंथकर्ता महाशय से हमारा अनुरोध है कि इस पुस्तक का जब दूसरा संस्करण होने लगे, तो वे छूटी हुई उक्तियों को सम्मिलित करने तथा सब की व्याख्या को जहाँ कहीं आवश्यकता हो, दुहराकर ठीक करने का प्रयत्न करें। अंत में हम ग्रंथकर्ता महाशय

को उनके परिश्रम के लिये साधुवाद कहते हुए हिंदी-प्रेमियों से इस ग्रंथ का यथेष्ट आदर करने का अनुरोध करते हैं।

श्यामसुन्दरदास
(बी० ए०)

जातक कथा-माला (पहला भाग)—अनुवादक तथा प्रकाशक, बाबू रामचन्द्र वर्मा, साहित्य-रत्न-माला कार्यालय, काशी। पृष्ठ संख्या १० + ३ + १९० छपाई आदि साफ़। मूल्य १)

जब कभी समालोचक के सामने कोई ऐसी पुस्तक आ जाती है जिसकी उपयोगिता पहले ही सिद्ध हो चुकी है और जिसके लेखक इने-गिने सिद्धहस्तों में गिने जाते हैं, तब उसका कर्तव्य-क्षेत्र बहुत संकुचित सा हो जाता है। ऐसी दशा में उसका लिखना चाहे पिष्ट-पेषण न भी हो, तथापि समालोचन नहीं कहा जा सकता। वह एक तरह का परिचायक होगा। इसी भाँति का संगठन आज इस समालोचक के सामने आ जमा है। यह प्रस्तुत पुस्तक बौद्ध धर्म की प्रसिद्ध जातक कथाओं का आंशिक अनुवाद है। अनुवादक हैं हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक बाबू रामचन्द्र वर्मा। यह पुस्तक कैसी शिक्षाप्रद और रोचक होगी, यह इन्हीं दो बातों से भली भाँति जाना जा सकता है। इतना ही, नहीं यह पुस्तक हिंदू-विश्व-विद्यालय के हिन्दी पाठ्य क्रम में निर्वाचित भी हो चुकी है। इससे भी उसकी उपयोगिता अच्छी तरह प्रमाणित होती है। इसलिये यह व्यक्त ही है कि यहाँ गुण-दोष-विवेचन का अधिक अवकाश नहीं है। यहाँ केवल यही दिखाना है कि एक बड़ी भारी आवश्यकता की वर्मा जी ने कैसी पूर्ति की है और वह पूर्ति कहाँ तक हो सकी है।

यदि जन-संख्या से ही महत्व का माप किया जाय तो भी बौद्ध-धर्म सब के आगे स्थान पाने के योग्य है। जिस देश ने अल्प काल ही में कल्पनातीत उन्नति कर रूस ऐसे प्रचंड साम्राज्य को जर्जरित

कर दिया, वह जापान भी इसी बौद्ध-धर्म का अनुयायी है। चीन ऐसा विशालकाय देश, जो अपनी सभ्यता की प्राचीनता के लिये और अपनी जन-संख्या की प्रभूतता के लिये समुचित गर्व धारण कर सकता है, वह भी बुद्ध भगवान के ही आदेशों का माननेवाला है। कहाँ तक कहें, तिब्बत, स्याम, ब्रह्म देश, सिंहल द्वीप आदि में बौद्ध धर्म की कल्पलता आज भी हरी भरी लहलहा रही है। जिस धर्म ने इस प्रकार संसार के अनेक भागों में अपने सत्व-बल के प्रचार द्वारा अभी तक पूरी तरह से सिक्का जमा रक्खा है, उसके ग्रन्थों की ओर किस जाति या व्यक्ति का ध्यान आकृष्ट न होना चाहिए ?

पाश्चात्य देशों में—विशेष कर जर्मनी में—इस धर्म के ग्रन्थों का इतना अनुशीलन हुआ है कि यदि तद्विषयक समस्त लेखों या पुस्तकों का संग्रह किया जाय तो एक बड़ा भारी पुस्तकालय भर जाय। बड़े ही आश्चर्य और लज्जा की बात है कि जिस देश में इस धर्म का उदय हुआ, वहीं उसका लोप भी हो गया। आज हम लोग प्लेटो, कांट आदि की दुहाई देने में जरा भी नहीं हिचकते, किन्तु इसी देश के सर्व-श्रद्धेय बुद्ध भगवान् के एक वचन का भी नाम नहीं जानना चाहते। आजकल हिन्दी के भाण्डार को भर पूर करने की चर्चा चारों ओर गूँज रही है और कुछ अंशों में वह चर्चा निःसन्देह चरितार्थ भी हो रही है। किन्तु पूछना यह है कि किस हिन्दी-दिग्गज का ध्यान वास्तविक कल्पतरुओं की ओर गया है। आज तक कोई ऐसी पुस्तक मेरे देखने में न आई जिससे यह मालूम पड़े कि अमुक महाशय ने पाली का या प्राकृत का अथवा दर्शनों का वास्तविक अनुशीलन कर कलम उठाया है। हाँ यदि किसी भारतीय भाषा में ऐसी पुस्तकों का प्रादुर्भाव हुआ है तो वह बँगला में हुआ है। हिन्दी तो बिलकुल ही पिछड़ी हुई है। मुझे जहाँ तक मालूम है, वर्माजी की यह पुस्तक ही इस ढंग की पहली पुस्तक है। अस्तु।

बौद्ध ग्रन्थ दो भागों में विभक्त किए जा सकते हैं—(१) संस्कृत-ग्रंथ और (२) पाली ग्रंथ। प्राचीन बौद्ध धर्म अर्थात् हीनयान के समस्त ग्रन्थ पाली ही में लिखे हुए हैं। वे 'त्रिपिटक' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका महायान के संस्कृत ग्रंथों से कुछ कम महत्व नहीं है, बल्कि कुछ अंश में उनसे बढ़ कर ही है। वे तीनों पिटक ये हैं-(१) विनय पिटक (२) सूत्र पिटक और (३) अभिधर्म पिटक। विनय पिटक में शील-विषयक शिक्षा दी गई है। इसी लिये वह 'अप्यादेशना' के नाम से प्रसिद्ध है। अभिधर्म पिटक में परमार्थ का उपदेश प्रज्ञा-विषयक शिक्षा देकर किया गया है। इसी लिये वह परमार्थदेशना भी कहा जाता है। सूत्र पिटक को व्यवहार देशना कहते हैं; क्योंकि उसमें भगवान् बुद्ध ने कथा कहकर व्यवहार की शिक्षा दी है।

सूत्र पिटक पाँच भागों में विभक्त है-(१) दीर्घ निकाय (२) मध्यम निकाय (३) संयुक्त निकाय (४) अङ्गोत्तर निकाय और (५) क्षुद्रक (खुद्दक) निकाय। क्षुद्रक निकाय का प्रधान अंश जातक हैं *। जातक कथा में उन कथाओं का संग्रह है जो बुद्ध भगवान् ने 'बुद्ध' होने पर पूर्व जन्म के अनुभवों को स्मरण कर कही थीं। इनका बड़ा महत्व है। बौद्धों के लिये तो वे रामायण भागवत ही हैं; अन्य धर्माव-लम्बियों के लिये भी वे कम आदर की चीज नहीं हैं। बौद्ध धर्म की विश्वजनीन शिक्षाओं को यदि सरल ढंग से हृदयंगम करना है तो इन्हें अवश्य पढ़ना चाहिए। प्राचीन इतिहास कीसामग्री तो इनमें इतनी भरी पड़ी है कि उनका अन्यत्र मिलना ही कठिन है। तुलना-त्मक कथा—विज्ञान की दृष्टि से भी इनकी उपयोगिता कहीं चढ़ी बढ़ी है †।

---

* जिनको इस विषय में अधिक जानना हो वे George Hust की Sacred Literature नामक पुस्तक देखें।

† Francis and Thomas के 'Jataka Tales' की भूमिका देखिए।

इनके अनुवाद बहुत भाषाओं में निकल चुके हैं। जर्मन में तो कई अनुवाद हो चुके हैं। अंग्रेजी में पहले पहल Rhys Davids ने प्रारंभ किया। Cowell की अध्यक्षता में कई विद्वानों ने मिलकर समाप्त किया। सबसे सुगम संस्करण Francis and Thomas का है। बँगला में श्रीयुत ईशान घोष का अनुवाद बहुत ही अच्छे ढंग से हुआ है। बड़ी ही लज्जा की बात है कि हिन्दी-लेखकों की किसी प्रकार कमी न होने पर भी इस ओर किसी का ध्यान न गया। बाबू रामचंद्र वर्मा के प्रति हर एक हिन्दी भाषा-भाषी को कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने इस बड़े भारी अभाव को कुछ अंश में दूर किया।

वर्मा जी की यह पुस्तक करीब दो सौ पृष्ठों की है। १९० पृष्ठों में ४५ जातक कथाओं का अनुवाद दिया गया है। अनुवाद में कोई क्रम नहीं रक्खा गया है। चुन चुनकर कथाएँ ली गई हैं। शायद जातकार्थ वर्णना के क्रम से ही अनुवाद किया गया है। बीच बीच में कथाएँ छोड़ दी गई हैं। चुनने में किन नियमों का पालन किया गया है, यह मुझे कुछ भी पता न लग सका। बीच बीच में कई अच्छे जातक भी छोड़ दिए गए हैं। शायद वे द्वितीय भाग के लिये 'रिजर्व' रक्खे गए हों। अनुवाद बहुत करके बहुत ही सरल और साधु भाषा में करने का प्रयत्न किया गया है। इससे साधारण से साधारण लोग भी लाभ उठा सकते हैं। किन्तु कहीं कहीं एक दो शब्द ऐसे आ गये हैं कि उनका अर्थ साधारण जन शायद शीघ्र न समझ सकें। "गाड़ियों से घेरकर स्कंधावार बनाया गया" इस वाक्य में 'स्कंधावार' शब्द कैसा है? शायद इससे अधिक उपयुक्त अन्य शब्द न जँचा हो। कुछ भी हो, इससे कोई विशेष हर्ज यद्यपि नहीं है, तथापि ऐसे स्थानों पर स्वतंत्र रूप से लिखा जाता तो और अच्छा होता।

अनुवाद के पहले १० पृष्ठों की भूमिका है। यह अत्यन्त उपयोगी है। बिना ऐसे उपोद्घात के तो इस अनुवाद का कुछ महत्त्व ही न रहता।

यह कौन जानने बैठा है कि जातक क्या हैं, बोधिसत्व किसको कहते हैं, इत्यादि। इसलिये इन कथाओं के कहने के पहले यह सब बता देना उचित ही है। बल्कि 'श्रेयसि केन तृप्यते' इस कहावत को चरितार्थ करते हुए हम तो यह कहेंगे कि भूमिका बहुत ही छोटी है। जब लोगों का चित्त इस ओर आकर्षित करना है (और बिना ऐसा किए अनुवाद के अन्य भागों के निकलने की संभावना ही कैसे हो सकती है) तब जितना प्रसंगवश कहा जा सकता है, उतना बौद्धधर्म-साहित्य के बारे में कह देना ही उचित था। कम से कम यह बता देना तो आवश्यक ही था कि पाली में और कौन कौन ग्रन्थ हैं, उनका जातकों से क्या सम्बन्ध है, पाली जातकों और संस्कृत जातकों में क्या अन्तर है और बौद्ध धर्म साहित्य में जातकों का क्या महत्व है। भूमिका में कई वाक्य ऐसे हैं जो स्पष्ट नहीं प्रतीत होते। "बल्कि बोधिसत्व या बुद्धांकुर के रूप में रहता है" इस वाक्या में संयोजक 'या' क्या सूचित करता है? क्या 'बुद्धांकुर' भी पारिभाषिक शब्द समझा गया है ? शायद संक्षेपोक्ति–प्रयत्न ही इन अस्फुटताओं को निदान है। अधिक चाह से प्रेरित होकर ही यह सब हम कह रहे हैं। अन्यथा 'अकरणान्मन्द करणं श्रेयः' तो है ही।

अंत में हिंदी में बौद्ध ग्रंथों को प्रवेशाधिकार देना प्रारंभ करने के लिये हृदय से आभार मानते हुए हम वर्माजी का अभिनंदन करते हैं। आशा है, वर्मा जी इतने ही अनुवाद से संतुष्ट होकर न बैठ जायँगे। जातकों का अनुवाद तो पूरा होना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त पाली के अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ–'मिलिन्द पह्नो' 'परीगाथा' इत्यादि का भी अनुवाद करना चाहिए। किंतु हमारा इसके साथ ही एक और भी नम्र निवेदन है। वह यह है कि जहाँ तक हो सके, मूल ग्रन्थों का भी अनुरोध रखना चाहिए। ऐसा न करने से कहीं कहीं, विशेष कर गाथाओं के अनुवाद में कुछ कुछ गड़बड़ रह जाने की बहुत

संभावना रह जाती है। अनुवादों में भी जर्मन अनुवाद ही सब से अधिक विश्वासार्ह होते हैं। इसलिये यदि शक्य हो तो उनका भी उपयोग अवश्य करना चाहिए।

बटुकनाथ शर्मा
(साहित्याचार्य्य, एम० ए०)

प्रबंध समिति

रविवार ४ ज्येष्ठ १९८१ (१८ मई १९२४)

संध्या के ६ बजे स्थान—सभा भवन

(१) गत अधिवेशन (३ वैशाख १९८१) का कार्य विवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ।

(२) सभा का इकतीसवाँ वार्षिक विवरण पढ़ा गया और आवश्यक संशोधन के उपरांत स्वीकृत हुआ।

(३) साहित्य उपसमिति की रिपोर्ट उपस्थित की गई, जिसमें उसने निम्नलिखित पुस्तकों के प्रकाशित करने की सम्मति दी थी—

पृथ्वीराज रासो—पहले भाग की १७० प्रतियाँ और चौथे भाग की ७० प्रतियाँ। इनके छपने से पूर्ण ग्रंथ के १६३ सेट तैयार हो जायँगे। इस ग्रंथ का मूल्य २०) रु० से ३०) रु० कर दिया जाय।

हिंदी शब्दसागर—दूसरे खंड की ४०० प्रतियाँ छपवा ली जायँ।

मनोरंजन पुस्तकमाला—आदर्श जीवन, आदर्श हिन्दू, भाग २ और ३, आत्म-शिक्षण तथा सुंदरसार की एक एक हजार प्रतियाँ छपवा ली जायँ।

अन्य पुस्तकें-अन्योक्ति कल्पद्रुम की १००० प्रतियाँ छपवाई जायँ।

नवीन पुस्तकें

बालाबख्श राजपूत चारण पुस्तकमाला-कविराज बाँकीदास जी की ग्रंथावली की १००० प्रतियाँ छपवा ली जायँ।

मनोरंजन पुस्तकमाला—शाही दृश्य की १५०० प्रतियाँ और युधिष्ठिर की १५०० प्रतियाँ छपवाई जाँय।

शिशुपालन और राजपूत वीरता भी छपे।

देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला—इत्सिग इस वर्ष प्रकाशित किया जाय। मूता नैणसी की ख्यात और अशोक क्रमशः छपते रहें।

सूर्यकुमारी पुस्तकमाला—अकबरी दरबार की १००० प्रतियाँ और स्वास्थ्य रक्षा की १००० प्रतियाँ छापी जायँ।

नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला—(१) सदल मिश्र (२) इन्शाअल्ला-खाँ और (३) बीसलदेव रासा प्रकाशित करने का विचार किया जाय। यदि सभा द्रव्य दे सके तो कबीरदास की ग्रंथावली भी प्रकाशित की जाय।

संशोधित व्याकरण का कम से कम एक अंक निकलना चाहिए और संक्षिप्त हिंदी व्याकरण की २५०० प्रतियाँ छपनी चाहिएँ।

निश्चय हुआ कि यह स्वीकार किया जाय और जो सज्जन हिंदी शब्दसागर के केवल फुटकर खंड मोल लें, उनसे प्रत्येक खंड का मूल्य ६) रु० के बदले =) रु० लिया जाय।

(४) बाबू गोरखप्रसाद गुप्त का पोस्ट कार्ड उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि वे आर्थिक असुविधा के कारण अब वार्षिक चंदा नहीं दे सकते; अतः सभा उनका चंदा क्षमा कर दे। साथ ही उन सभासदों की नामावली उपस्थित की गई जिनका चंदा क्षमा है और मंत्री ने सूचना दी कि श्रीमती राजदेवी कुँअरी का कुछ पता नहीं है। सभा से जो पत्रिका आदि जाती है, वह लौट आती है।

निश्चय हुआ कि इस नामावली में श्रीमती राजदेवी कुँअरी का नाम काट दिया जाय और बाबू गोरखप्रसाद गुप्त का नाम लिख लिया जाय। यह भी निश्चय हुआ कि पं० गणेशप्रसाद, पं० महेन्द्रलाल गर्ग, पंडित रामसहाय शर्मा, बाबू श्यामलाल वर्मा और पंडित सूर्यनारायण शर्मा से पूछा जाय कि उनके नाम चंदा देनेवाले सभासदों की नामावली में क्यों न लिख लिए जायँ।

(५) पंडित लक्ष्मीप्रसाद के पत्र उपस्थित किए गए जिनमें उन्होंने इंडियन प्रेस का नाम पुस्तकालय के सहायकों में लिखने की प्रार्थना की थी।

निश्चय हुआ कि पुस्तकालय के नियमों के अनुसार किसी संस्था के मनेजर का नाम पुस्तकालय के सहायकों में नहीं लिखा जा सकता। व्यक्ति विशेष ही सहायकों में अपना नाम लिखवा सकते हैं।

(६) मंत्री ने सूचना दी कि पंडित भागीरथ प्रसाद दीक्षित को हिंदी पुस्तकों की खोज का कार्य पंजाब में करने के लिये आज्ञा दी गई थी और लिखा गया था कि वे १ वैशाख १९८१ को बहराइच से काशी अवश्य चले आवें। पर उन्होंने इस आज्ञा का पालन नहीं किया। इस कारण वे १० वैशाख को मुअत्तल कर दिए गए। साथ ही खोज के निरीक्षक का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने पंडित भागीरथप्रसाद को क्षमा करने के लिये लिखा था।

निश्चय हुआ कि उन्हें इस बार क्षमा किया।

(७) मेसर्स नंदकिशोर ब्रदर्स का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि वे अब बाहरी पुस्तक-विक्रेताओं को छोड़कर किसी अवस्था में सभा की पुस्तकों पर कमीशन नहीं देंगे अतः सभा उन्हें उतना ही कमीशन देने की कृपा करे, जितना वह बाहरी पुस्तक-विक्रेताओं को देती है। साथ ही यदि संक्षिप्त हिंदी व्याकरण पर उन्हें नियत कमीशन के सिवा सभा २॥) रु० सैकड़े कमीशन और दे, तो वे बाहर के पुस्तक-विक्रेताओं के हाथ भी इस पुस्तक के बेचने का प्रबंध करेंगे।

निश्चय हुआ कि मेसर्स नंदकिशोर ब्रदर्स को पुस्तकों पर उतना ही कमीशन दिया जाय जितना बाहरी पुस्तविक्रेताओं को दिया जाता है। काशी के अन्य पुस्तक-विक्रेताओं को भी, जो लिखित प्रतिज्ञापत्र दें कि वे बाहरी पुस्तक-विक्रताओंको छोड़कर और किसी को किसी अवस्था में सभा की पुस्तकों पर कमीशन न देंगे, वही कमीशन दिया जाय जो बाहरी पुस्तक-विक्रेताओं को दिया जाता है।

(८) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

साधारण अधिवेशन

शनिवार १७ ज्येष्ठ १९८१ (३१ मई १९२४)

समय संध्या के ५½ बजे। स्थान—सभा भवन

(१) बाबू रामचन्द्र वर्मा के प्रस्ताव तथा बाबू व्रजरत्न दास के अनुमोदन पर बाबू श्यामसुन्दरदास जी सभापति चुने गए।

(२) ३ वैशाख १९८१ के साधारण अधिवेशन तथा १२ ज्येष्ठ १९८१ के वार्षिक अधिवेशन के कार्य विवरण पढ़े गए और स्वीकृत हुए।

(३) प्रबन्ध समिति के ७ पौष १९८०, २९ फाल्गुन १९८० और वैशाख १९८१ के कार्य विवरण सूचनार्थ उपस्थित किए गए।

(४) सभासद होने के लिये निम्नलिखित सज्जनों के पत्र उपस्थित किए गए:—

१. पंडित देवेन्द्र नाथ सुकुल, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी ३)
२. पंडित त्रिभुवन नाथ सुकुल, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी ३)
३. कुँवर कन्हैया जू देव, चरखारी, बुँदेलखंड ३)
४. पंडित श्री राम तिवारी, हेडमास्टर, ट्रेनिंगस्कूल, बाराबंकी ३)
५. लाला रतन लाल जी, हैदरगढ़, बाराबंकी ३)
६. ठाकुर शिवनाथ सिंह, एकसाइज इन्सपेक्टर, हैदरगढ़, बाराबंकी ३)

निश्चय हुआ कि ये सज्जन सभासद चुने जायँ।

(५) निम्नलिखित सभासदों के त्यागपत्र उपस्थित किए गए और स्वीकृत हुए:—

१. बाबू ओंकार प्रसाद भार्गव, मिशन गर्ल्स स्कूल, कटनी।
२. बाबू शिवप्रसाद मारवाड़ी, लाड़ली कुंज, वृन्दावन।

(६) मंत्री ने सूचना दी कि सभा के सभासद सर आशुतोष मुकर्जी का देहान्त हो गया।

निश्चय हुआ कि इस सभा को ऐसे विद्वान्, पराक्रमी और स्वनामधन्य सभासद की मृत्यु पर अत्यन्त शोक है और वह इनके देहान्त से अपनी ही नहीं वरन् भारतवर्ष की विशेष हानि समझती है।

निश्चय हुआ कि सर आशुतोष मुकर्जी के पुत्र के पास समवेदना-सूचक पत्र भेजा जाय।

(७) मंत्री ने सूचना दी कि गत वर्ष प्रबन्ध समिति के अधिवेशनों में उपस्थित न होने और इन अधिवेशनों में अपनी सम्मति न भेजने के कारण निम्नलिखित सज्जनों के स्थान उक्त समिति में रिक्त होते हैं:—

(१) बाबू रामप्रसाद चौधरी (२) बाबू बटुकप्रसाद खत्री (३) पंडित रामचन्द्र नायक कालिया (४) पंडित गिरिधर शर्म्मा चतुर्वेदी (५) बाबू राम गोपाल सिंह चौधरी (६) राय पूरण चन्द्र नाहर (७) पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और (८) ठाकुर रामसिंह।

निश्चय हुआ कि इन सज्जनों के स्थान पर क्रमात् निम्नलिखित सज्जन प्रबन्ध समिति के सदस्य चुने जायँ (१) बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए० (२) पंडित मदन मोहन शास्त्री (३) बाबू रामचन्द्र वर्म्मा (४) पंडित जगद्धर शर्म्मा गुलेरी (५) बाबू राजेन्द्र प्रसाद एम० ए० (६) पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी (७) राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और (८) कुँअर पृथ्वी सिंह, खनियाधाना।

(८) मंत्री ने इस सभा के सभासद बाबू गजानन्द मोदी के देहांत की सूचना दी।

इस पर सभा ने अत्यंत शोक प्रगट किया और निश्चय हुआ कि इनके उत्तराधिकारी के पास समवेदना-सूचक पत्र भेजा जाय।

(४) निम्नलिखित पुस्तकें धन्यवाद पूर्वक स्वीकृत हुईं:—

संयुक्त प्रदेश की गवर्न्मेंट—

District Census Statistics of the United Provinces of Agra and Oudh 1921 for Azamgarh.

„ „ Badaun.

„ „ Barieilly.

„ „ Mirzapur.

„ „ Shahjahanpur.

„ „ Moradabad.

General Report on Public Instructions in U. P. for the Year ending 31st March 1923.

मद्रास की गवर्न्मेन्ट—Annual Report on Epigraphy for the Year 1921–22.

Annual Report on South Indian Epigraphy for the Year ending 31st March 1923.

पंडित श्रीकृष्ण तिवारी, द्विवेदी प्रेस, कानपुर

संयुक्त प्रान्तीय ग्राम पंचायत एक्ट

बाबू बालमुकुंद वर्म्मा, काशी—बनारस

पंडित सत्यदेव, जैतपुरा, काशी—कुरान में परिवर्तन

बाबू दिल सुखराम जयनारायण नेवटिया, फतहपुर, जैपुर

श्रीकृष्ण यशगान

बाबू बाँके बिहारीलाल सांख्यसेन, निशान महल रोड, लखनऊ

रसिक प्रमोदिनी

बाबू मुकुंददास गुप्त, पुस्तक भवन, काशी

बालमनोरंजन, शैलबाला, विनयपत्रिका सटीक

बाबू श्यामसुंदर दास बी० ए० काशी—भारत गीत

पंडित रामप्रीत शर्म्मा विशारद, सम्पादक, रंभा, आरा

बालचर विनोद

लाला भगवान दीन जी काशी—केशवकौमुदी भाग १–२

पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय, काशी

चुभते चौपदे चोखे चौपदे

श्रीयुत चतुरसिंह बीका राठौर—सोरठा संग्रह

पंडित शत्रुघ्न किंकर पांडेय, बरजी, बनारस स्टेट

रामायण अयोध्या कांड का आठवाँ अध्याय

बाबू रामचंद्र वर्म्मा, साहित्य रत्नमाला कार्यालय, काशी

भाषा विज्ञान, हिंदी भाषा का विकास

पंडित गंगा प्रसाद मेहता एम० ए० हिंदू विश्वविद्यालय, काशी

हिंदू धर्म की बालबोधी

पंडित जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, वैद्य, दारागंज, प्रयाग

रस परिज्ञान

ब्रह्म विद्या पुस्तक माला कार्यालय, मुरादाबाद

जगद्गुरु का आविर्भाव

पंडित हनुमान शर्म्मा, जयपुर—वेदांत सार रामायण

पंडित द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, दारागंज, प्रयाग

नारी चरित्र माला, विश्व की विचित्रता, रामानुजाचार्य

दाशरथी रामचंद्र, तुलसी हितोपदेश, महात्मा साक्रटीज़

श्रीयुत मंत्री, स्वागतकारिणी सभा, द्वादश हिंदी साहित्य-सम्मेलन लाहौर

द्वादश हिंदी साहित्य सम्मेलन का कार्य विवरण दूसरा भाग

बाबू शोभाराम चित्रकार, सागर—चित्रकारोत्पत्ति

बाबू घुरहूराम, पाँडेपुर, बनारस—कवितावली

पंडित श्यामबिहारी शुक्ल, कालिकागली, काशी

आत्मा और मन

पंडित बद्रीदास पुरोहित, श्री पुष्कर वेदशाला, कलकत्ता

त्रिकाल सन्ध्योपासना, आह्निक कर्म योग

बाबू महावीर प्रसाद श्रीवास्तव बी० एस सी० एल० टी० विशारद प्रयाग—सूर्य्य सिद्धान्त

मेसर्स निहाल चंद एन्ड कम्पनी, नं० १ नारायण प्रसाद लेन, कलकत्ता—दर्शन परिचय

श्रीयुत मनेजर, दरबार प्रेस, ग्वालियर

प्रोसिडिङ्ग मजलिस आम ग्वालियर संवत् १९८०

पंडित बालचंद शास्त्री, नागपुर

अनुभूत योग रत्नमाला (संस्कृत)

पंडित रामदीन पराशर, किशनगढ़—राव कल्ला जी राव मलोत

कांग्रेस कमेटी, अजमेर

देशभक्त वीर राठौर की वक्तृता, राव गोपालसिंह का भाषण

मुनि जिनविजय आचार्य, गुजरात पुरातत्व मंदिर अहमदाबाद

अभिधानप्रदीपिका

स्मिथसोनियन इन्स्टीट्यूशन, वाशिंगटन, अमेरिका

Smithsonian Mathematical Formula and Kables of Elliptic Functions

Bureau of American Ethnology, Bulletin 80- Mandan and Hidasta Music.

Bureau of American Ethnology, Bulletin 81. Excavations in the Chama Valley, New Mexico.

लाला सीताराम बी० ए० प्रयाग

Farrukh Siyar and Jahandar Shah.

एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल

Journal and Proceedings Vol. XIX 1923
Nos. 1 and 2.

Indian Antiquary for March and April 1924.

क्रय की गईं—

महाराष्ट्रीय ज्ञान कोश भाग ३-४, विश्व-कोश सातवाँ भाग

(१०) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

साधारण सभा

शनिवार ३१ ज्येष्ठ १९८१ (१४ जून १९२४)

समय संध्या के ६ बजे, स्थान—सभा भवन

(१) बाबू कवीन्द्रनारायण सिंह सभापति चुने गए।

(२) गत अधिवेशन (१७ ज्येष्ठ १९८१) का कार्य विवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ।

(३) सभासद होने के लिये निम्नलिखित सज्जनों के आवेदन-पत्र उपस्थित किए गए:—

१. पंडित अयोध्या नाथ शर्म्मा, एफ्, बलाक, फर्स्ट होस्टेल विश्वविद्यालय, काशी ३)

२. पंडित हीराचन्द्र शास्त्री, फर्नहिल, नीलगिरी ३)

निश्चय हुआ कि ये सज्जन सभासद चुने जायँ।

(४) निम्नलिखित पुस्तकें धन्यवादपूर्वक स्वीकृत हुईं:—

Brief History of the Rai Family of Benares.

संयुक्त प्रदेश की गवर्न्मेंन्ट

Annual Report of the Chemical Examination for 1923.

पंडित नरदेव शास्त्री, वैदिक पुस्तकालय, मुरादाबाद

गीता विमर्श।

Indian Antiquary for April 1924 and Index to Vol. III 1923.

(५) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई ।

साधारण अधिवेशन

शनिवार २८ आषाढ़ १९८१ (१२ जूलाई १९२४)

समय संध्या के ६ बजे, स्थान—सभा भवन

(१) बाबू व्रजरत्नदास के प्रस्ताव पर बाबू श्यामसुन्दरदास सभापति चुने गए ।

(२) गत अधिवेशन (३१ ज्येष्ठ १९८१) का कार्यविवरण सूचनार्थ उपस्थित किया गया और स्वीकृत हुआ ।

(३) प्रबन्ध समिति का ४ ज्येष्ठ १९८१ का कार्यविवरण सूचनार्थ उपस्थित किया गया ।

(४) सभासद होने के लिये निम्नलिखित सज्जन का आवेदन पत्र उपस्थित किया गयाः—

१. बाबू महादेव प्रसाद, गवर्न्मेन्ट ट्रेजरर, बलिया ५)

निश्चय हुआ कि ये सज्जन सभासद चुने जायँ ।

(५) मंत्री ने इस सभा के स्थायी सभासद जबलपुर निवासी पंडित विनायकराव की मृत्यु की सूचना दी ।

इस पर सभा ने शोक प्रकट किया ।

(६) निम्नलिखित पुस्तकें धन्यवादपूर्वक स्वीकृत हुईः—

बाबू रामचन्द्र वर्म्मा, साहित्य रत्न माला कार्यालय, काशी

जातक-कथा-माला

बाबू बलभद्र दास, लक्खी चौतरा, काशी

चन्द्रकान्ता सन्तति भाग १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ९, १०, ११, और १२ (गुटका)

श्रीयुत दामोदर मोरेश्वर लघाटे, जिन्सी बाजार, लश्कर ग्वालियर
नर्मदाष्टक स्तोत्रम्

बाबू बाँके बिहारी लाल, निदान महल रोड, यहिया गंज लखनऊ
बाँके पिया हरिनाम संकीर्तन

श्रीयुत पंडित नरदेव शास्त्री, वैदिक पुस्तकालय, मुरादाबाद
गीता विमर्श

श्रीयुत अध्यक्ष, सरस्वती भंडार, पटना—चाणक्य और चन्द्रगुप्त

पंडित रामचन्द्र दुबे, डूँगरपुर—विजय हजारा प्रथम भाग

एशियाटिक सोसायटी आफ़ बंगाल, कलकत्ता
Journal and Proceedings of the Society,
New Series Vol. XIX 1923 No. 3.

म्युनिसिपल बोर्ड, बनारस
Annual Administration Report of the Benares
Municipality for the year 1923–24

(७) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई ।

प्रबंध समिति

शनिवार २१ आषाढ़ १९८१ (५ जुलाई १९२४)

समय संध्या के ५॥ बजे, स्थान—सभा भवन

(१) बाबू श्यामसुंदरदास के प्रस्ताव तथा बाबू कवीन्द्र-नारायण सिंह के अनुमोदन पर बाबू गौरीशंकरप्रसाद सभापति चुने गए ।

(२) गत अधिवेशन (४ ज्येष्ठ १९८१) का कार्य विवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ ।

(३) पंडित सूर्यनारायण शर्मा तथा पंडित गणेशप्रसाद शर्मा के पत्र उपस्थित किए गए, जिनमें उन्होंने पूर्ववत् अपना वार्षिक

चन्दा क्षमा रक्खे जाने के सम्बन्ध में लिखा था। साथ ही पंडित महेन्द्रलाल गर्ग का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि उनके पुत्र पंडित प्यारेलाल गर्ग इस सभा के सभासद हैं, अतः उनका नाम अब उन सभासदों में से काट दिया जाय जिनका चन्दा क्षमा है।

निश्चय हुआ कि प्रथम दो सज्जनों का नाम पूर्ववत् उन सभासदों की नामावली में रहे जिनका चन्दा क्षमा है। यह भी निश्चय हुआ कि पंडित रामसहाय शर्मा, बाबू श्यामलाल और पंडित महेन्द्रलाल गर्ग के नाम उक्त नामावली में से काट दिए जाय।

(४) भारत इतिहास संशोधक मंडल का पत्र उपस्थित किया गया।

निश्चय हुआ कि सभा की पुस्तकें इन्हें परिवर्तन में दी जायँ और मंडल के इस विचार से कि साहित्यिक संस्थाओं का वार्षिक सम्मेलन होना उचित है, सभा सहानुभूति प्रकट करती है।

(५) शिमले के नेशनल ए० डी० क्लब के मंत्री का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि वे कवि सम्मेलन करके पारितोषिक बाँटना चाहते हैं। सभा कविताओं पर विचार कर उत्तम कविताओं का निर्णय कर दे।

निश्चय हुआ कि यह स्वीकार किया जाय और कविताओं के आ जाने पर सभा के उप-सभापति पण्डित अयोध्या सिंह उपाध्याय से प्रार्थना की जाय कि वे उत्तम कविताओं के निर्णय का भार अपने ऊपर लें।

(६) पंडित किशोरीदास वाजपेयी का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने सभा द्वारा प्रकाशित गोस्वामी तुलसीदास जी की जीवनी के संस्कृत अनुवाद को प्रकाशित करने की अनुमति माँगी थी।

निश्चय हुआ कि उन्हें इसके लिये अनुमति दी जाय।

(७) निश्चय हुआ कि रूप निघण्टु कोश की समाप्ति के लिये बाबू रूपलाल वैश्य को जो सभा ने इस वर्ष से ३०) रु० मासिक सहायता देना निश्चित किया था, वह १ आषाढ़ से दी जाय।

(८) पुस्तकों को प्रकाशित करने आदि के संबंध में साहित्य उप-समिति की ७ आषाढ़ १९८१ की रिपोर्ट उपस्थित की गई जिसमें उसने निम्न लिखित प्रस्ताव पास किए थे—

१. मौलवी अफसूँ का मंत्र बिंब पत्रिका में छपने योग्य है। लेखक महाशय से पूछा जाय कि वे किन शर्तों पर इसे देना चाहते हैं।

२. सुबोध जैन-दर्शन छापने योग्य है। लेखक से शर्तें पूछी जाँय और पूछा जाय कि वे भाषा सुधारने का भार ले सकते हैं कि नहीं।

३. प्राकृतिक चिकित्सा रहस्य—छापने योग्य नहीं है।

४. बस्ती के बा० दुर्गाप्रसाद वर्म्मा का पत्र—सभा को इनकी पुस्तक नहीं लेनी चाहिए।

५ बा० क्षेमानंद राहुत का पत्र—सभा को इन शर्तों पर उनकी पुस्तक नहीं लेना चाहिए और पुस्तक देखे बिना सभा कुछ निश्चय भी नहीं कर सकती।

६. पंडित प्रतापनारायण चतुर्वेदी का पत्र—सभा इस पुस्तक को आर्थिक कठिनाई से नहीं ले सकती।

७. पत्रिका में पुस्तकों की समालोचना निकाली जाया करे। उपमंत्री यह निश्चय कर दिया करें कि किस पुस्तक की समालोचना हो और कौन समालोचना करे।

८. सभा के मंत्री भी साहित्य उपसमिति के सदस्य हों।

९. बा० श्यामसुंदरदास जी साहित्य का जो इतिहास लिख रहे हैं, सूर्य्यकुमारी पुस्तकमाला में वह इतिहास दो खंडों में और कवियों की उत्तम कविताओं का संग्रह दो खंडों में प्रकाशित किया जाय।

निश्चय हुआ कि ये प्रस्ताव स्वीकार किए जायँ।

(९) वेतन वृद्धि के लिये बा० बनारसीदास, बा० शिवप्रसाद गुप्त, बा० बागेश्वरी प्रसाद सिंह तथा पंडित राजकिशोर मिश्र के प्रार्थनापत्र उपस्थित किए गए।

निश्चय हुआ कि इन पर विचार कर सम्मति देने के लिये निम्न लिखित सज्जनों की उपसमिति बना दी जाय—

बा० व्रजरत्न दास

पंडित बलराम उपाध्याय और

बा० रामचंद्र वर्म्मा

(१०) बाबू गुलाबराय का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि उन्होंने तर्क शास्त्र पर जो ग्रंथ सभा के लिये लिखा है, उसे वे मंगलाप्रसाद पारितोषिक के लिये भेजना चाहते हैं। अतः सभा इस ग्रंथ को शीघ्र प्रकाशित कर दे; अथवा लिखे तो वे अन्यत्र इसके प्रकाशित करने का प्रबंध करें।

निश्चय हुआ कि यदि बाबू गुलाबराय जी इस पुस्तक को एक मास के भीतर तैयार करके भेज दें, तो सभा इसे मनोरंजन पुस्तकमाला में आगामी दिसम्बर तक प्रकाशित कर देगी।

(११) बा० श्यामसुन्दरदास जी का यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि सभा प्रत्येक विषय की उत्तमोत्तम हिंदी पुस्तकों की एक सूची तैयार करावे जिससे हिंदी पढ़नेवालों को पुस्तकें चुनने में सुभीता हो और वे क्रमशः एक के अनन्तर दूसरी पुस्तक का अध्ययन कर किसी चुने हुए विषय में दक्ष हो सकें।

निश्चय हुआ कि यह प्रस्ताव स्वीकार किया जाय और इस सूची के तैयार करने के लिये निम्नलिखित सज्जनों की उपसमिति बना दी जाय—

बा० श्यामसुन्दरदास बी० ए०

पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय

पंडित रामचंद्र शुक्ल
बा० रामचन्द्र वर्म्मा
पंडित केदारनाथ पाठक और सभा के उपमंत्री (संयोजक)

(१२) पण्डित केदारनाथ पाठक के ये प्रस्ताव उपस्थित किए गए कि (क) स्वर्गीय पण्डित बद्रीनारायण चौधरी का एक चित्र सभा के हाल में लगाया जाय जिसके लिये सभा को पंडित नर्मदेश्वर प्रसाद उपाध्याय से सहायता मिल सकती है और (ख) हिंदी पुस्तकों की खोज की सन् १९०३ की रिपोर्ट पुनः प्रकाशित की जाय।

निश्चय हुआ कि (क) यह स्वीकार किया जाय और (ख) धन के अभाव से इन रिपोर्टों का प्रकाशित करना सम्भव नहीं है।

(१३) बा० श्यामसुन्दरदास जी के प्रस्ताव पर यह निश्चय हुआ कि पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा रायबहादुर पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के तैलचित्र सभा के हाल में लगवाए जायँ। इन चित्रों के व्यय के लिये उपस्थित सज्जनों ने नीचे लिखे अनुसार चन्दा देना स्वीकार किया है:—

बा० श्यामसुन्दरदास जी बी० ए० एक तैल चित्र का कुल व्यय	
बा० गौरीशंकर प्रसाद बी० ए० एल एल० बी०	१०)
बा० कवीन्द्रनारायण सिंह	१०)
बा० ब्रजरत्नदास जी	१०)
पंडित बलराम उपाध्याय	१०)
बा० रामचन्द्र वर्मा	५)
बा० वेणीप्रसाद जी	५)
पण्डित रामनारायण मिश्र	५)

(१४) बा० रामचन्द्र वर्मा के प्रस्ताव पर निश्चय हुआ कि पंडित गोविन्द नारायण मिश्र का एक बड़ा फोटो सभा भवन में लगाया जाय।

(१५) राय बहादुर बा० हीरालाल का यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि प्राचीन कवि, लेखक और उनके ग्रंथों के विषय में टिप्पणियाँ और लेख कई पत्र पत्रिकाओं में निकला करते हैं। सभा पेपर कटिंग एजेन्सियों की भाँति कोई ऐसा प्रबन्ध कर दे जिससे पत्रों तथा पत्रिकाओं से हिंदी पुस्तकों की खोज तथा अन्य पुस्तकों के सम्बन्ध में जो कुछ नई टिप्पणी प्रकाशित हो, उसका संग्रह किया जाय। इसकी सहायता से खोज को रिपोर्ट अधिक शुद्धता से लिखी जा सकेगी।

निश्चय हुआ कि पुस्तकों की खोज के सम्बन्ध में अथवा सभा द्वारा प्रकाशित पुस्तकों के सम्बन्ध में जिस पत्र या पत्रिका में कोई लेख निकले, उसकी कटिंग सभा के पुस्तकाध्यक्ष एक पुस्तक में रक्खें और जिन जिन सज्जनों से इन लेखों का सम्बन्ध हो, उनके पास उन लेखों की प्रतिलिपियाँ भेजी जाया करें।

(१६) बा० जीतमल लूणिया का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि जिन पुस्तकों पर १००) रु० से अधिक के आर्डर पर सभा २५) सैकड़ा कमीशन देती है, उनके कम मूल्य के आर्डर पर भी उन्हें २५) सैकड़े कमीशन मिलना चाहिए।

निश्चय हुआ कि जो पुस्तक-विक्रेता बराबर सभा से पुस्तकें लेते रहते हैं और वर्ष में १००) से कम की पुस्तकें नहीं लेते, उन्हें मक मूल्य की पुस्तकें लेने पर भी २५) सैकड़े कमीशन दिया जाय।

(१७) सभापति को धन्यवाद देकर सभा विसर्जित हुई।

निश्च·